CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भट्टनायक और अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

लेखक :
डा० सुलेखचन्द्र शर्मा
एम०ए० (हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेजी-उर्दू), पी-एच०डी०
साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
देशबन्धु कालेज (सांध्य) (दिल्ली वि०वि०)
कालकाजी, नई दिल्ली-११००१९

१९८२

प्रकाशिका
देववाणी-परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९
(भारतम्)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भट्टनायक और अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा (काव्यशास्त्रीय समीक्षा)

लेखक : : डा० सुलेखचन्द्र शर्मा

© : लेखक

प्रकाशिका : देववाणी-परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहार, नयी दिल्ली-११००५९

मुद्रक : : देववाणी प्रिंटर्स
उत्तम नगर, नयी दिल्ली-११००५९

संस्करण : प्रथम, १९८२

मूल्य : पचास रुपये मात्र रु० ५०.००

Bhaṭṭanāyaka aura Abhinavagupta kī Sādhāraṇīkaraṇa-viṣayaka Avadhāraṇā

(Literary Criticism)

Author : Sharma, Dr. Sulekh Chandra

Publisher : Devavani Parishad, Delhi
6, Vani Vihar, New Delhi-110059

Printer : Dev Vani Printers
Uttam Nagar, New Delhi-110059

Edition : First, 1982

Price : Rs. Fifty only. Rs. 50.00

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रास्ताविकम्

'देववाणी-परिषद्, दिल्ली' संस्थायाः सद्ग्रन्थप्रकाशनरूपमप्येकमुद्देश्यमस्ति। तदनुसारमद्यावधि परिषदा इमे संस्कृतभाषानिबद्धा ग्रन्थाः प्रकाशिताः- (१) सुगमरामायणम् (आचार्यश्रीरमेशचन्द्रशुक्लप्रणीतं महाकाव्यम्) (२) श्रीकृष्णचरितम् (आचार्यश्रीरमेशचन्द्रशुक्लप्रणीतं महाकाव्यम्) (३) कर्णभूषणम् (डा० सी० आर० स्वामिनाथ-कृतं नाटकशोकगीतिप्रबन्धात्मकं रचनात्रयम्) (४-६) अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यविमर्शः (डा० रमाकान्तशुक्लसम्पादितः खण्डत्रयात्मकः समीक्षाग्रन्थः) (७) हरविजयस्य साहित्यिकमध्ययनम् (डा० कृष्णकान्तशुक्ललिखितम्) (८) श्रीमदप्पयदीक्षितचरितम् (डा० हरिनारायणदीक्षितरचितं गद्यकाव्यम्) (९) भाति मे भारतम् (डा० रमाकान्त शुक्लप्रणीतं काव्यम् (१०) भारतस्वातंत्र्यसंग्रामेतिहासः (डा० रमेशचन्द्रशुक्लकृतः) (११) सदाशयसमुच्चयः (श्री टी० वी० परमेश्वरअय्यरप्रणीतः) (१२) आभाणकमञ्जरी (श्री टी० वी० परमेश्वरअय्यरप्रणीता) (१३) देववाणीदर्शनम् (डा० रमेशचन्द्रशुक्लादिसम्पादितम्) (१४) जय भारतभूमे ! (डा० रमाकान्तशुक्लप्रणीतं काव्यम्) (१५) राधाकृष्णरसायनम् (श्री ओट्टूरउण्णिनम्बूदिरीपादरचितं भक्तिकाव्यम्) (१६) अभिनवहनुमन्नाटकम् (आचार्यरमेशचन्द्रशुक्लप्रणीतं संस्कृतनाटकम्) (१७) अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यपरिचयः (प्रथम खण्डः) (डा० रमाकान्तशुक्लसम्पादितः) च। परिषदा हिन्द्यां रचिताः संस्कृतसाहित्यपरका इमे ग्रन्था अपि प्रकाशिताः :—(१८-२१) 'मेघदूत : एक विश्लेषण', 'रघुवंश : एक विश्लेषण', 'अभिज्ञानशाकुन्तल : एक विश्लेषण' 'कालिदास की कला और संस्कृति (भाग २)' (ले० डा० देवीदत्त शर्मा) तथा (२२) 'साधारणीकरण और समानान्तर चिन्तन की पूर्वपीठिका' (ले० डा० सुलेखचन्द्र शर्मा)

इदानीञ्च परिषदियम् एम० ए० (संस्कृत-अंग्रेजी-हिन्दी-उर्दू)-पी-एच० डी० (संस्कृत)-साहित्याचार्य-काव्यतीर्थ-प्रभृत्युपाधिभूषितैः दिल्लीविश्वविद्यालयस्याङ्गभूते सान्ध्ये देशबन्धुकालेजे हिन्दीविभागप्राध्यापकपदमलङ्कुर्वद्भिः किञ्च स्व आजीवनसदस्यैः डा० सुलेखचन्द्रशर्ममहाभागैर्हिन्दीमाध्यमेन लिखितं

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

'भट्टनायक और अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा' इत्याख्यं ग्रन्थं प्रकाशयन्ती हर्षमनुविन्दति ।

अस्मिन् ग्रन्थे विदुषा लेखकेन भट्टनायकाभिनवगुप्ताभ्यां विहितस्य साधारणीकरणपरकस्य चिन्तनस्य नवीनतमदृशा वैदुष्यपूर्णं विवेचनं कृतम् । ग्रन्थोऽयं लेखकस्य गम्भीराध्ययनस्य परिचायकः । आशासे हिन्दीमाध्यमेन संस्कृतकाव्यशास्त्रमवगाहितुकामा जिज्ञासवोऽनेन ग्रन्थेन लाभान्विता भविष्यन्ति। डा० शर्ममहाभागाः स्वपरिश्रमाय वर्धाप्यन्ते । देववाणी-परिषदे-तेषामाभारमावहति यदेभिस्स्वग्रन्थस्य प्रकाशनमतोऽनुमतम् । कृपालवः पाठकाः क्वचिज्जातानि मुद्रणस्खलितानि शोधयितुं सादरं प्रार्थ्यन्ते ।

दीपावली
१५ नवम्बर १९८२ ई०
६, वाणी-विहारः,
नई दिल्ली-११००५९.

विदुषामाश्रवः
रमाकान्त शुक्लः
महासचिवः, देववाणी-परिषद्, दिल्ली ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भूमिका

शब्दार्थमयी सृष्टि में मूर्त होने वाले कवि के अनुभव-संसार से सहभोक्ता-अनुभोक्ता के स्तर पर सहृदय किस प्रकार संपृक्त होता अथवा प्रतिक्रिया करता है, पाश्चात्य एवं पौरस्त्य काव्यशास्त्र का यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में संक्रमण, संप्रेषण, तादात्म्य, मानसिक अन्तराल, प्रयोजनातीत अनुभूति, संवेदनात्मक समाहिति, वस्तुगत सहसम्बद्धता तथा निर्वैयक्तिकता मूलक सिद्धान्तों के वृत्त में इस समस्या पर विचार हुआ है। भारतीय काव्यशास्त्र ने बहुत पहले साधारणीकरण-सिद्धान्त की उद्‌भावना के द्वारा इस समस्या का अन्तरंग समाधान प्रस्तुत किया है। अतः पाश्चात्य चिंतन से सम्बद्ध एवं सापेक्ष नव्य चिन्तन के आलोक में तद्विषयक अवधारणाओं का अधिक व्यापक आख्यान एवं मूल्यांकन किया जा सकता है।

भारतीय दृष्टि आस्वाद को अद्वंद्वमयी चेतना मानती है किन्तु द्वंद्वात्मक समाहिति के अनेक अन्तःसूत्र भी, उसकी साहित्यशास्त्रीय अवधारणाओं में अनुसंधेय है। साधारणीकरण की अवधारणा कवि तथा सहृदय के अन्तःसम्बन्ध को इसी द्वंद्वात्मक समाहिति के स्तर पर परिभाषित करती है। अभिधात्मक स्तर पर स्थिति एवं पात्र सहृदय की अन्तश्चेतना में प्रकृतिमुक्त किन्तु सामष्टिक अवचेतन में निहित आद्य बिम्बों के रूप में अवतीर्ण होते हैं। पारिस्थितिक प्रवाह में वे अपनी मौलिकता अर्जित करते हैं और इसी विभावन प्रक्रिया के समानान्तर प्रमाता भी क्रमशः आत्मानुसंधान करता हुआ अन्तःप्रक्रिया करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमाता एवं काव्य की द्वंद्वमयी चेतना को शास्त्रीय आधार पर विश्लेषित कर भट्‌टनायक एवं अभिनवगुप्त के साधारणीकरणविषयक सिद्धान्तों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इन सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि के रूप में 'साधारणीकरण एवं समानान्तर चिन्तन की पूर्वपीठिका' प्रस्तुत की जा चुकी है जिसमें काव्य के मौलिक प्रयोजन, तथा साधारण शब्द के विविध निहितार्थों में साधारणीकरण के व्यापक स्वरूप को समाकलित करने की सार्थकता का विश्लेषण किया गया है। सिद्धि, औचित्य, नाट्य-धर्मी वृत्तियों एवं अनुभावन की विविध अवधारणाओं में साधारणीकरण के नियामक तत्त्वों

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

का आख्यान हुआ है। अलंकार-शास्त्र में भाविक, व्याकरण में स्फोट तथा दर्शन में सामान्य की संकल्पनाएँ भी साधारणीकरण का पूर्वाभास देती है।

भट्टनायक के पूर्व भी कवि तथा सहृदय के अन्तःसम्बन्ध के नियामक तत्त्वों का विवेचन हुआ है। अतः इसी क्रम में वहाँ ऋग्वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, कालिदास, भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन की विविध अवधारणाओं में इन अन्तःसूत्रों का आकलन किया गया है। भट्टनायक ने शास्त्र एवं जीवन के व्यापक एवं व्यावहारिक धरातल से साधारणीकरण की केन्द्रीय पारिभाषिक शब्दावली को ग्रहण किया है। उसमें विविध दर्शनों तथा युगीन जीवन के सूत्र समाहित हैं। उनसे पूर्व लोल्लट ने इस तथ्य पर विचार किया है कि चित्तवृत्तियों के संश्लेषण एवं उपचय का अनिवार्य परिणाम प्रमाता की अनुभूति का निर्वैयक्तीकरण है। अनुकार्य के अस्तित्व का प्रतीकीकृत बोध सामष्टिक अन्तश्चेतना में विद्यमान रहता है, पात्र की विशिष्ट अपेक्षाओं में प्रवेशकर अभिनेता उन्हीं का पुनरनुसंधान करता है। प्रेक्षक अनुकर्ता का ही विभक्त व्यक्तित्व है। शंकुक ने कलात्मक अभिव्यंजना की विशिष्ट प्रकृति के स्तर पर इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है।

प्रथम अध्याय में भट्टनायक की अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व विषयक अवधारणाओं की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए इनकी साधारणीकरण विषयक अवधारणा का मूल्यांकन किया गया है। द्वितीय अध्याय में अभिनवगुप्त की साधारणीकरण के स्वरूप एवं प्रक्रिया सम्बन्धी अवधारणा की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। काव्यानुभव के अधिकारी सहृदय की अपेक्षाओं, नाट्य, काव्य में साधारणीकरण की सापेक्ष स्थिति तथा रस-विघ्नों के निराकरण के परिप्रेक्ष्य में अभिनव ने जिन प्रश्नों पर विचार किया है नव्य चिन्तन के आलोक में उनकी दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक शक्ति एवं सीमाओं का मूल्यांकन किया गया है।

भट्टनायक की अवधारणा का उपयोग पूर्वनिर्धारित स्थिर अथवा आदर्शीकृत चरित्रों की निर्विशेषीकृत अनुभूति के स्तर पर किया गया है, किन्तु गतिशील चरित्रों के प्रति प्रमातृगत अनुक्रिया के विवेचन में भी इसकी सहायता अनिवार्यरूप से ली जा सकती है। यहाँ विभावादि के साधारणीकरण का आशय सर्जनात्मक प्रत्याशाओं के अनुरूप चरित्र की उस गतिशील प्रकृति के उन्मीलन से है जिसमें पात्र रचना की विशिष्ट संभावनाओं के

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अनुरूप अपनी प्रकृति को अर्जित एवं आचरण को परिभाषित करता है। अभिनव ने स्पष्टतः पात्र की सर्जनात्मक संभावनाओं के समानान्तर गतिशील, प्रमाता के सामर्थ्य-बोध का उद्घाटन किया है। कवि की काव्यानुभूति में प्रतिविम्बित होकर अनुकार्य विशिष्ट संदर्भ में ही आकार ग्रहण करता है। कवि भी कलात्मक वैशिष्ट्य के द्वारा ही उसको मूर्त करता है। प्रमाता की चेतना में इन विशिष्ट विम्बों के समानान्तर स्तर पर उत्कीर्ण होने से क्रमशः उसके वैशिष्ट्य की चेतना धूमिल पड़ने लगती है। राम की अतीत स्मृति तथा वर्तमान का कालिक बोध परस्पर संघर्षरत होकर उसे निर्विशिष्ट बना देते हैं।

एक सार्थक और श्रेष्ठ अवधारणा का निकष वह ऐतिहासिक बोध है जो अतीत एवं वर्तमान की सर्जनात्मक अन्तश्चेतना को परिवेश एवं युग-धर्म के अनुरूप प्रासंगिक वनाता है। साधारणीकरण की सरलीकृत अवधारणा निरन्तर विकासशील दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आलोक में पुनर्व्याख्यायित होकर काव्यानुभूति के अधिक जटिल आयामों का समाधान प्रस्तुत कर सकती है। फलतः नव्यालोचन के सूत्रों का भी आग्रहपूर्वक अध्याहार कर लिया गया है। आशा है वह अवधारणा जो अलौकिक अमूर्तीकरण को केन्द्र में रखकर विकसित हुई है इस परिप्रेक्ष्य में प्रगतिकामी चिन्तन को किञ्चित् उत्तेजना प्रदान कर सकेगी।

देववाणी-परिषद् की चिन्तन-सर्जन की अनेकायामी दीर्घा में संस्कृत के आधुनिक बोध का जो आयाम सम्पादन-प्रकाशन के स्तर पर उभरा है उसे इस कृति में प्रतिविम्बित करने का श्रेय परिषद् के महासचिव सुहृद्वर डा० रमाकान्त शुक्ल को है। डा० व्रजमोहन चतुर्वेदी जी ने कृति की मूल-संकल्पना को उत्प्रेरित किया है तथा वन्धुवर डा० सुन्दरलाल कथूरिया, डा० कृष्णदत्त शर्मा, डा० शुक्ल, एवं अर्धांगिनी अञ्जु, पुत्री दीप्ति के स्नेहरस से यह निष्पन्न हुई है। उक्त सबका मैं हृदय से आभारी हूँ।

—सुलेखचन्द्र शर्मा

८ नवम्बर, १९८२ ई०
बी २/१४४, जनकपुरी,
नयी दिल्ली-११००५८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अनुक्रम

भट्टनायक की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

(पृष्ठ १—६४)

भट्टनायक (दशम शतक का प्रारम्भ) हृदयदर्पण (१-३), परिवेश (३-५), साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका (५-१३), साधारणीकरण का विधि-पक्ष (१३-१७), लक्षण एवं अभिधा (२३-३०), भावना एवं भावकत्व (३०-३१), भावना व्यापार के अन्तःसूत्र (३१-३३), भावना का दार्शनिक आधार (३४-३७), काव्यशास्त्रीय सन्दर्भ (३७-३६), भट्टनायक के सन्दर्भ में काव्यप्रकाश के टीकाकारों की साधारणीकरण सम्बन्धी अवधारणाएँ (३६-४४), रजस्तमोऽनुवेध तथा सत्त्वोद्रेक (४४-५०), भोग-व्यापार (५०), दार्शनिक पृष्ठभूमि (५०-५६), 'विभावादिसाधारणीकरणात्मना' सीता की कान्तात्व में परिणति (५६-६०), देवतादि का साधारणीकरण (६०-६४)

अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

पृष्ठ (६५—१२६)

अभिनवगुप्त (अभिनवभारती-लोचन) (६५-६८), अभिनव की समन्वयवादी अवधारणा (६८-७२), काव्यास्वाद-प्रक्रिया (७२-७४), साधारणीकरण-विषयक अवधारणा (७४-८४), वासना-संवाद एवं साधारणीकरण (८४-८७), सामाजिकों में एकघनता एवं वासना-संवाद (८७-६३), रसविघ्न और साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका (६३-६४), सम्भावनाविरह (६४-६५), स्वगत सुख-दुःख आदि की प्रतीति (६५-६६), निजसुखादिविवशीभाव (६६-१०३), प्रतीत्युपायवैकल्यम् (१०३-१०७), अप्रधानता (१०७-१०६), संशययोग (१०६-११३), नाट्य में साधारणीकरण (११३-११५), कथा और साधारणीकरण (११५-११८), मुक्तक और साधारणीकरण (११८-१२१), नीतिकाव्य और साधारणीकरण (१२१-१२२), इतिहास का साधारणीकरण (१२२-१२६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भट्टनायक की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

भट्टनायक (दशम शतक का प्रारम्भ) हृदयदर्पण

कवि की अनुभूति एवं कल्पना शब्दार्थमयी सृष्टि में रूपान्तरित हो कर जिस काव्य वस्तु में परिणत होती है, उसके मूल में कवि की विशेष भावदृष्टि निहित रहती है। प्रमाता भी अपनी अनन्य साधारण अनुभूति के माध्यम से कवि के विशिष्ट अनुभूति-परिवेश में संक्रमण करता है, अतः इन दोनों विशिष्ट अनुभूति-परिवेशों का संवाद किस प्रकार घटित होता है, काव्य-शास्त्र का यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है। लोल्लट तथा शंकुक अनुसंधान, आरोप अथवा अनुमिति के माध्यम से इस प्रश्न के सीमान्त तक अवश्य पहुँचे, किन्तु कवि की शब्दार्थमयी सृष्टि के साथ सहृदय के हृदय-संवाद की साधारणीमूलक व्याख्या भट्नायक ने ही प्रस्तुत की। साधारणीकरण की अवधारणा के उद्भावक भट्टनायक ही हैं। परगत, तटस्थमूलक प्रतीतियों तथा देवता आदि के अलौकिक कृत्यों में पूर्वपक्ष के स्तर पर साधारणीकरण के निषेध की संकल्पना प्रस्तुत कर वे प्रकारान्तर से किसी पूर्ववर्ती अवधारणा की ओर अवश्य इंगित करते हैं, जिसमें लौकिक अथवा एकान्त अलौकिक प्रतीतियों की साधारणीमूलक संभावनाओं को स्वीकार किया गया है। संभवतः उनका संकेत किसी विशिष्ट सैद्धान्तिक अवधारणा की ओर न हो कर काव्य-शास्त्र की व्यावहारिक विप्रतिपत्ति की ओर है। भट्टलोल्लट तथा शंकुक की अवधारणाओं में अभेदप्रतिपत्तिमूलक संकेत भी लक्ष्य हो सकते हैं। भट्टनायक द्वारा पूर्वपक्ष के स्तर पर प्रस्तुत तार्किक अन्विति

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

साधारणीकरण के पूर्वाभास के विविध संदर्भों को अवश्य आत्मसात् करती है।

भट्टनायक ध्वनिविरोधी किन्तु व्यापारवादी रस-चिन्तक हैं।[1] उनका अलंकारग्रन्थ हृदय-दर्पण या सहृदय-दर्पण स्वतन्त्र ग्रन्थ था या नाट्यशास्त्र की टीका के रूप में विनिर्मित हुआ था। यह तथ्य अब विवादास्पद है।[2] प्रकृत विषय से इस विवाद का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यह तथ्य अवश्य उल्लेखनीय है कि हृदय-दर्पण दीर्घकाल से दुर्लभ है तथा रसप्रदीपकार प्रभाकरभट्ट (१६वीं शताब्दी) के अनन्तर तो वह पूर्णत: अनुपलब्ध है।[3] व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट ने भी 'दर्पण' का अवलोकन किए बिना ही ध्वनि-ध्वंस का सम्पूर्ण श्रेय लेने की इच्छा व्यक्त की है।

'सहसा यशोऽभिसतुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥[4]

टीकाकार जयरथ के अनुसार दर्पण से महिम का आशय स्पष्टत: हृदय-दर्पण से ही है। 'हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।'[5] अभिनव ने लोचन में नायक का नामोल्लेखपूर्वक रस-व्यतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी खण्डन-मण्डन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि भट्नायक शब्द-व्यापारवादी चिन्तन के माध्यम से ही ध्वनिविरोध में प्रवृत्त हुए थे। यथा—यदूचे भट्टनायकेन अंशत्वं न रूपता इति'[6] अन्यत्र भी भट्टनायक की विविध अवधारणाओं का अभिनव ने खण्डनात्मक दृष्टि से उपयोग किया है 'यदि तु 'रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तद् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृदयहृदयदर्पण-मध्यास्ते;'[7] यत् तु भट्टनायकेनोक्तम्—इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिक-

---

१. भट्नायकेन तु व्यंग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्।
(अलङ्कारसर्वस्व, सं० रामचन्द्र द्विवेदी, पृ० १०)

२. (द्र०) हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स (एक० के डे) पृ० ४२

३. पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २८१

४. व्यक्तिविवेक (सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी) (१/४) पृ० ५

५. राजानकरुय्यक, व्यक्तिविवेक-व्याख्यानम् -वही- पृ० ५

६. ध्वन्यालोक-लोचन (सं० जगन्नाथ पाठक) पृ० ५१

७. -वही- पृ० ६९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः ।[1] एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे-यावत्पूर्णा न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम् इयि ।[2] तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृदग्विदुः ।[3]...

उक्त संदर्भों से भट्टनायक तथा हृदयदर्पण की व्यापारमूलक रसवादी दृष्टि की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। शब्दार्थ के कलात्मक भावप्रवण प्रयोग के माध्यम से वे जिस अवधारणा तक पहुँचे हैं, उसमें शब्दार्थ के अन्तः-सम्बन्ध से उन्मीलित होने वाली द्वन्द्वात्मक चेतना की स्वीकृति अनिवार्य है। भट्नायक के परिवेश में भी यह द्वन्द्वचेतना क्षुद्रता तथा उदात्तता के दो ध्रुवान्तों के समीकरण के रूप में दृष्टिगोचर होती है, उनकी अवधारणा अंशतः इस परिवेश चेतना से अप्रभावित नहीं रही होगी।

परिवेश

भट्टनायक का स्थिति-काल अवन्तिवर्मा (८५६ से ८८३) के सभारत्न आनन्दवर्द्धन तथा अभिनव (१० वीं शती का उतरार्द्ध) का मध्यवर्ती है। डा० कान्ति चन्द्र पाण्डेय के अनुसार इन्हें राजतरंगिणी में उल्लिखित शंकरवर्मा (८८३ से ९०० ई०) के समकालीन नायक से अभिन्न मानना अनुपयुक्त न होगा।[4] राजतरंगिणी के अनुसार राजा शंकरवर्मा ने पंचसत्र प्रदेश के अपने नाम पर वसाये शंकरपुर में सुगन्धेश शिव की प्रतिष्ठा कर[5] मन्दिर में सरस्वती के मन्दिर कल्प चतुर्विद्याविशारद नायक नामक ब्राह्मण को नियुक्त किया था। **'द्विजस्तयोर्नायकाख्यो गौरीशसुरसद्मनोः । चातुर्विद्यः कृतस्तेन वाग्देवीकुलमन्दिरम् ।'**[6] काणे के अनसार लोचनगत कटु व्यक्तिगत आक्षेपों से विदित होता है कि भट्टनायक ध्वन्यालोककार की अपेक्षा लोचनकार के अधिक निकटवर्ती थे। अतः इन्हें अभिनव का वृद्ध

१. -वही- पृ० ६७
२. -वही- पृ० ८८
३. -वही- पृ० ८९
४. डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय (अभिनवगुप्त (चौखम्भा-१९६३) पृ० २०१
५. राजतरंगिणी ५/१५६—५८ (काशी-१९६०) पृ० १३७
६. -वही- ५/१५९ पृ० -वही-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

समसामयिक मानना चाहिए।[1] अतः राजतंरगिणी में उल्लिखित नायक भट्टनायक से अभिन्न नहीं है। भट्टनायक का समय ९३५ से ९८५ के बीच रहा होगा।

काल विवाद से हमारा सम्बन्ध भट्टनायक की अवधारणाओं के युगीन परिवेश की ओर इंगित करना है, अतः उनकी स्थिति की सीमा का स्पष्ट, अस्पष्ट अनुमान लगाना अप्रासंगिक न होगा। एस० के० डे० के अनुसार भट्टनायक ध्वनिकार के परवर्ती हैं तथा अभिनवगुप्त ही वे प्राचीनतम लेखक हैं, जिन्होंने भट्टनायक का नामोल्लेख किया है और उसके उद्धरण दिये हैं। अतएव संभवतः भट्टनायक नवीं शतो के अंतिम चरण और दसवीं शती के अन्तिम चरण के मध्यवर्ती काल में हुए हैं।[2] अस्तु, कश्मीर के इतिहास में नवम शती के उत्तरार्द्ध तथा दशम शती के पूर्वार्द्ध का राजनैतिक, सांस्कृतिक और नैतिक परिवेश उनकी सर्जनात्मक आकांक्षाओं को मूर्त करने तथा काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं को निर्मित करने की दृष्टि से उल्लेखनीय है। यह काल ऐहिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न काल है। पराक्रम, आस्था, कृतज्ञता, सहिष्णुता, दान, भोग एवं निर्वेद का एक समुन्नत सांस्कृतिक वोध आगामी युग के ध्वंसोन्मुख परिवेश के पूर्व की भूमिका निर्मित करता है। यह काल एक व्यापक मूल्य-विघटन के पूर्व के बौद्धिक रागात्मक सामरस्य तथा उद्वेलन का स्पष्ट संकेत देता है।

अवन्तिवर्मा की मनोभूमिका का संकेत कल्हण ने इस प्रकार दिया है विवेक्ता प्राप्तराज्यः स क्ष्माभृद्वीक्ष्य नृपश्रियम्। अविलुप्तस्मृतिर्धीमानन्तरे-मेवमचिन्तयतन्॥ सेयं स्पृहां समुत्पाद्य दूषयत्युन्नतात्मनः। लक्ष्मीं कृत्वार्थिसात्कृत्स्नां कृतिनाऽवन्तिवर्मणा॥ विभूतिश्चामरच्छत्रमात्रशेषा व्यधीयत। परस्परमनुत्पन्नमन्युकालुष्यदूषणौ॥ न दृष्टौ न श्रुतौ वान्यौ तादृशौ राजमन्त्रिणौ।[3] इत्यादि उल्लेख तत्कालीन समृद्धि एवं स्वस्थ चेतना का प्रमाण देते हैं, किन्तु शंकर वर्मा की उपलब्धियों की सार्थकता अपनी प्रज्ञा से

१. हिस्ट्री औफ संस्कृत पोइटिक्स (१९६१) पृ० २२५
२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग-१ पृ० ३८
३. राजतरंगिणी (पंचमस्तरंगः) पृ० १२७ से १३१ तक

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कवियों द्वारा दिग्विजय वर्णन की परम्परा को उज्जीवित कराने में है। अन्यथा उसका कौशल तो दूसरे नगरों के द्रव्य एवं कला कौशल से अपने नगर को अलंकृत कराने तथा व्यसनासक्ति से प्रजा को दरिद्र करने में लक्षित होता है। 'आधीयमानचित्तोऽभूत्प्रजापीडनपण्डितः' (५/१६५)। कल्हण ने तत्कालीन दारिद्र्य एवं अकाल का समानान्तर भीषण चित्र अंकित किया है- इत्येषा रूढभारोढिः प्रथमं तेन पातिता। दारिद्र्यदूती ग्रामाणां या त्रयोदशधा स्थिता।[1] आयासैः श्वासशेषैव प्राणवृत्तिः शरीरिणाम्।[2] निश्चय ही यह पूरा संदर्भ युगचेतना को दुहरे स्तर पर व्याख्यायित करता है। एक ओर व्याधि, दुर्भिक्ष और सामन्तीय प्रपीडन से त्रस्त तथा आवेगात्मक स्पन्दन से शून्य प्रजा है तो दूसरी और अर्थलोलुप समृद्ध सामन्त-वर्ग है जो अर्थ शोषण से निरन्तर सम्पन्न हो रहा है।

'एकतो व्याधिर्दुर्भिक्षप्रमुखा विपदोऽखिलाः ।
प्रजानामेकस्त्वैका लुब्धता वसुधापतेः ॥

भूभुजोऽभ्यस्तलोभस्य श्रीः कैश्चिन्नाभिनन्द्यते ।
अकालकुसुमस्येव फलसंभावनोज्झिता ॥'[3]

सम्पूर्ण काश्मीर सामन्तों का उपभोग्य बन गया तथा यही वर्ग युग की सर्जन चेतना का निर्माण और नियन्त्रण करने लगा।

साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका

वस्तु-जगत् की वास्तविक स्थितियाँ काव्य अथवा नाट्य के अवास्तविक (कल्पनात्मक) संदर्भों में रूपान्तरित होने के कारण अधिक व्यापक एवं वैविध्यमूलक अन्तर्दशाओं को प्रतिबिम्बित करती हैं, यह तथ्य लोल्लट एवं शंकुक ने अनुसंधान अथवा अनुमितिमूलक अनुक्रिया में ग्रहण किया किन्तु विभावों (पात्रों एवं स्थितियों) की वैयक्तिक एवं समष्टिमूलक मानवीय नियति का लोकोत्तर (साधारणीकृत) पक्ष पूर्णतः उद्भिन्न नहीं हो सका। लौकिक अनुभूति के क्रियामूलक अनुकरण को अधिक महत्त्व देने के कारण

१. -वही- ५/१७४ पृ० १३८
२. -वही- ५/१८४, पृ० १३९
३. -वही- ५/१८७-८८, पृ० १३९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उनके पूर्ववर्ती चिन्तकों के केन्द्रीय संवेदन में कल्पनात्मक पुनर्भावन का पक्ष अपेक्षाकृत गौण रह गया। अतः भट्टनायक नाट्यानुभूति की सार्थकता इस स्तर पर स्वीकार करते हैं कि नाट्य लौकिक यथार्थ के सांगोपांग अनुकरण की अपेक्षा निरर्थकता का बोध कराने वाली अविद्या कल्पित निःसार स्थितियों में ही जीवन के चरम (भाव) सत्य को उद्घाटित करता है। कल्पना द्वारा पुनरनुसंधानित होकर लौकिक स्थितियाँ अनेकानेक आयामों में पुनरुद्घाटित एवं संख्यातीत कल्पनात्मक संदर्भों में आलोकित प्रतिबिम्बित होकर प्रमाताओं के हृदय को तन्मयीभवन की व्यापक भूमिका पर आरूढ़ करती है। कल्पनात्मक अनुसंधान में परिणत होकर यह अनुभूति असत्यमूलक प्रतीत नहीं होती अपितु पुनः पुनः भाव्यमान होकन उस चरम अनुभूति में पर्यवसित हो जाती है जो शान्त रस के समान सभी संवादी-विसंवादी अनुभूतियों को अन्तर्लीन कर लेती है।[1] यही स्थूलनामरूपात्मकता में निहित चरम भाव-सत्य का (सीता में कान्तात्व का) पुनरनुसंधान है।

भट्टनायक के चिन्तन के प्रमुख सूत्र यही हैं। अभिव्यंजनात्मक उपकरण (अथवा अभिनयन) काव्य एवं नाट्यानुभूति को 'अत्यक्तस्वावलम्बन'-स्वायत्तता प्रदान करते है। इस अर्थ में यह अनुभूति असत्य न रहकर (असत्यं कुतोऽप्यभूताद्भुतवृत्त्या भाति) पारमार्थिक हो जाती है। लौकिक अनुभूति जब पुनर्भावित होकर अलौकिकीकृत अनुभूति में परिणत होती है तो

---

१. भट्टनायकस्तु 'ब्रह्मणा' परमात्मना 'यदुदाहृत' अविद्याविरचित-निस्सार-भेदग्रहे यदुदाहरणीकृतं तन्नाट्यम्। तद्वक्ष्यामि। यथा हि कल्पनामात्रसारं तत एवानवस्थितैकरूपं क्षणेन कल्पनाशतसहस्रसहं स्वप्नादिविलक्षणमपि सुष्ठुतरां हृदय-ग्रहनिदानं, अत्यक्तस्वावलम्बन-ब्रह्मकल्प-नटोपरचितं रामरावणादिचेष्टितमसत्यं कुतोऽप्यभूताद्भुतवृत्त्या भाति। तथा भास्यमानमपि च पुमर्थोपायतामेति। तथा तादृगेव विश्वमिदमसत्यनामरूप-प्रपंचात्मकम्, अथ च श्रवणमननादिवशेन परमपुमर्थप्रापकमिति लोकोत्तर-परमपुरुषार्थसूचनेन शान्तरसाक्षेपोऽयं भविष्यति—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्त्यादुत्पद्यते रसः। इति तदनेन पारमार्थिकप्रयोजनमुक्तम् इति व्याख्यानं सहृदयदर्पणे पर्यग्रहीत्।

नाट्यशास्त्र, भाग १, अभिनवभारती, पृ० ५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सम्बन्धांश अर्थात् स्वगत-परगत प्रतीतियों के लौकिक अन्तःसूत्रों के विच्छिन्न हो जाने से उसमें साधारणीकृत अन्तश्चैतन्य का आविर्भाव होता है।

कवि, अनुकार्य अनुकर्ता तथा भोक्ता (सहृदय) के निजी सम्बन्धांश की निषेधमूलक भूमिका पर भट्टनायक के साधाणीकरण सिद्धान्त की भूमिका निर्मित हुई है। अभिनवभारती[1], ध्वन्यालोक-लोचन[2] एवं

---

१. भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् समुद्रलङ्घनादेरसावारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः। अनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता (सताऽपि युक्ता) प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयः। व्यग्रतयाऽकाश (चानेक) रसत्वमथापि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभवत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतत्वपरगतत्वादि च पूर्ववद्विकल्प्यम्।'

(- वही, पृ० २७६)

२. 'ननूक्तं भट्टनायकेन—रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वात्मगतत्वेन रामादिचरितमयात् काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता, सीतायाः सामाजिके प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्, देवतावर्णनादौ तदपि कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यादीना च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादादद्दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृंगारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

काव्यप्रकाश[1] में व्याख्यायित इस निषेधमूलक अवधारणा में विविध सौंदर्य-तात्त्विक एवं नैतिक वर्जनाओं के मनोवैज्ञानिक सूत्र प्रमाता की लौकिक अन्तरंगता तथा निःसंग तटस्थता को अनेक कोणों पर रसानुभूति में बाधक प्रमाणित करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि लौकिक प्रत्यक्षपरक अनुभव को भाव्यमान (कल्पनात्मक) अनुभूति से अभिन्न मानने के कारण ही रसानुभूति में आत्म-गतत्व अथवा ताटस्थ्य की आशंका उत्पन्न होती है। अतः भट्नायक ने लौकिक अनुभूति तथा काव्य की पुनर्भाव्यमान भूमिका के अन्तर को स्पष्ट करने के अनन्तर ही उसकी विधि-पक्षीय अवधारणा को उद्भावित करना प्रासंगिक समझा है। साधारणीकरण के निषेध विन्दुओं को उक्त उद्धरणों के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार आकलित किया जा सकता है।

रसानूभूति को एकान्त अनुकार्य केन्द्रित अथवा अनुकर्त्तृ निष्ठ मानने से सामाजिक रसानुभूति के वृत्त से वहिष्कृत हो जाता है।[2] परगत अनूभूति में वह समभागिता के स्तर पर सम्पृक्त नहीं हो सकता अधिकाधिक उसकी भूमिका एक तटस्थ द्रष्टा की हो सकती है। इसी प्रकार सामाजिक रस को यदि प्रत्यक्ष संवेदनात्मक स्तर पर आत्मानुभूति के समकक्ष ग्रहण करता है तो उसकी बौद्धृनिष्ठा खण्डित होती है,[3] फलतः करुण रस में अनुभूत दुःखात्मक

परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः। तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः।

(लोचन (बालप्रिया सहित), पृ० १८०-८२)

१. न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते
काव्यप्रकाश (झलकीकर), पृ० ९०

२. अत्र प्रत्यासन्नास्त्रयः नटो नायकः रामादिः सामाजिकश्चेति...तत्राद्य-द्वयं गतत्वं निरस्यति...वस्तुतो रामगतया नटगतत्वेनानुमितयापि रत्या सामाजिकेऽसत्या तच्चमत्कारजननासंभवाच्च।

(- काव्यप्रकाश, वालबोधिनी, पृ० ९०-९१)

३. (तु०) वोध्य निष्ठा यथा स्वं ते सुख दुःखादि हेतवः
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतवः

(- श्रीभगवद्भक्ति रसायन, ३/५, पृ० १७३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्यापार में लौकिक शोक के समान ही दुःख की अनुभूति होगी। स्वगत-प्रतीति प्रामाणिक भी नहीं है मौलिक अर्थात् ऐतिहासिक सीतादि चरित नाट्य-प्रयोग काल में उपस्थित नहीं है तथा पूर्व साक्षात्कार के अभाव में उनकी स्मृति भी संभव नहीं है। काव्य अथवा नाट्य के साक्षात्कार के समय प्रेयसी की संवेदनात्मक स्मृति का उद्बुद्ध होना भी अनिवार्य नहीं है। स्मृत्यारूढ़ प्रेयसी को मनश्चक्षुओं में विभावित कर एवं सीतादि का स्थानापन्न बनाकर अपना आलम्बन बनाना न संभव ही है और न काम्य ही। नटी में अध्यवसित होकर भी जगज्जननी सीता सामाजिक की रति का आलम्बन नहीं बन सकती, क्योंकि जब तक सीतादि पूज्य पात्रों में आराध्यत्व अथवा पूज्य बुद्धि का निषेध नहीं किया जाता तब तक न तो उन्हें सामान्य कान्ता-भाव से ग्रहण ही किया जा सकता और न उनके प्रति सामान्य रति-भाव ही उद्दीप्त हो सकता है।

अपनी ससीम भाव-परिधि में सामाजिक हनुमानादि के अलौकिक असाधारण कार्यों से साधारण्य स्थापित नहीं कर सकता। उत्साह एवं रत्यादि भावों से युक्त रामादि की स्मृति भी सामाजिक के लिए व्यावहारिक स्तर पर संभव नहीं है क्योंकि न तो अनिवार्यतः उनके अलौकिक कृत्यों में निहित उत्साहादि असाधारण भाव सामाजिक के पूर्वानुभूत भाव है और न उन असाधारण कार्यों के आलोकवलय में मंडित राम का ही उसने पूर्व साक्षात्कार किया है। उनके कार्यों के अर्थबोध या अनुमानपरक ज्ञान से भी मानस-साक्षात्कार जैसी रसात्मक अनुभूति नहीं हो सकती। आशय यह है कि अनुभव, स्मृति, शब्दार्थजन्य अनुमानादि परोक्ष साधनों पर आश्रित अनुभूति आस्वादनपरक नहीं होती।

प्रत्यक्षपरक अनुभूति में भी रसास्वाद की समाहित-मनस्कता का अभाव होता है। प्रेमी युगल की प्रत्यक्ष प्रणय-क्रीड़ा के साक्षात्कार से सामाजिक के हृदय में प्रकृत शृंगार रस के विरुद्ध लज्जा, जुगुप्सा, ईर्ष्या जैसे भावों का उद्रेक होता है। अभिव्यक्ति-पक्ष में भी सामाजिक की संस्कारावस्थित वासना के मात्रा भेद एवं तारतम्य के अनुरूप अनुभूति की विविध कोटियों की आशंका उत्पन्न होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि भट्टनायक ने लोल्लट, शंकुक अथवा आनन्दवर्द्धन की प्रतिपत्तियों को दृष्टि में रखकर ही साधारणीकरण की निषेधमूलक

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा परोक्ष अभिव्यक्ति पर आश्रित उनकी अवधारणाओं में निहित कवि के अभिव्यंजनापरक वैशिष्ट्य एवं उसमें अध्यवसित सहृदय के स्वगत परगत भाव की मुक्ति की संभावना पर भट्टनायक ने विचार नहीं किया है। अनुसंधान एवं विरुद्ध बुद्धि-संभेद की अनुभूति सामाजिक में प्रत्यक्षाश्रित अथवा परोक्ष अनुमान-जन्य परोक्ष-ज्ञान से भिन्न चमत्कारात्मक अनुभूति (आस्वाद) को प्रेरित करती है—इस संभावना पर हम विचार कर चुके हैं। यहाँ प्रासंगिक यह है कि खण्डनात्मक पक्ष के अतिरिक्त भी भट्टनायक के इस अभिमत में कतिपय मूल्यवान् मनोवैज्ञानिक संकेत निहित है।

श्रोता अथका प्रेक्षक वास्तविक पात्र अथवा घटना का नहीं अपितु काव्य में अभिव्यंजित उनके कल्पनात्मक रूपान्तरण का ही पुनरनुसंधान करता है। काव्य की अवास्तविक भूमि में लौकिक कार्य-कारण के अनुषंग धूमिल पड़ जाते हैं। अत: सामाजिक की निजी मानसिकता के अप्रासंगिक हो जाने से प्रणय-चर्या के दृश्यों से साक्षात्कार से उद्भूत लज्जा, ईर्ष्या, जुगुप्सा की अनुभूतियाँ भी शमित हो जाती हैं।

नाट्यानुभूति के क्षण में सामाजिक के व्यक्तिगत-अनुभव तथा उसकी निजी स्मृतियाँ अप्रासंगिक अन्तराय उत्पन्न करती हैं। सामाजिक संस्काराव-स्थित भावों के द्वारा काव्य अथवा नाट्य का आस्वाद अवश्य करता है, किन्तु इन संस्कारों का अनियंत्रित उद्‌बोध काव्यानुभूति की मूल प्रकृति को विकृत भी कर सकता है अत: स्वकान्ता स्मृति की प्रासंगिकता को यथावत् स्वीकार नहीं किया जा सकता है। रामादि की अनुभूति भी नाट्य-प्रयोग में अभिव्यक्त होकर प्रेक्षक को समभागिता के स्तर पर अन्तर्भूत करती है। अत: प्रेक्षक रामादि के किसी असाधारण कृत्य अथवा उनकी उत्साहादि युक्त स्मृति से नहीं अपितु उस प्रयोग में अभिव्यंजित साधारणीभूत विम्ब से तादात्म्य करता है। विभावादि के साधारणीकृत होने की अवधारणा व्यक्ति वैशिष्ट्य के एकान्त तिरोधान की दिशा नहीं है। प्रयोग (अभिव्यंजना) में परिणत होकर रामादि सामाजिक के ममत्व एवं परत्व के संस्कारजन्य विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं। नियत संबन्धों से मुक्त साधारणीकृत विभावादि (साधारण्य) की भी भूमिका स्वगत-परगत प्रतीतियों के कलात्मक संतुलन से निर्मित होती है। बुलो ने मानसिक अन्तराल की अवधारणा के द्वारा प्रकारान्तर से साधारण्य की इस भूमिका पर विचार किया है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अन्तराल की विरलता प्रमाता को को स्वगत-प्रतीति की ओर उन्मुख करती है, तद्विपरीत अति दूरी का परिणाम संवेग की शिथिलता, तटस्थता अथवा परगत प्रतीति है। वास्तविक रसानुभूति इन अतिरेक भूमियों की मध्यवर्तिनी दशा है जिसमें प्रमाता काव्यवस्तु को न तो प्रयोजनीयता से संस्कृत कर अपनी वैयक्तिक रागद्वेष अथवा योगक्षेम की अन्तःपरिधि में देखता है और न एकान्त भाव-शून्य होकर निःसंग दृष्टि से उसका प्रत्यवलोकन करता है।[1]

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि स्वगत-परगत प्रतीति के निषेध से प्रमाता की आश्रय के साथ तादात्म्य की संभावना निरस्त नहीं होती अपितु प्रमातृगत मानसिक अन्तराल की क्षीणता प्रमाणित होती है। भावावेग से अभिभूत प्रमाता की संविद् काव्य के भाव-सत्य में अन्तःप्रवेश नहीं कर पाती।[2] नायक एवं सामाजिक की चित्तवृत्तियों में अभेद अथवा तादात्म्य को अभिनव भी स्वीकार करते हैं किन्तु इसमें अतिरिक्त भावप्रवणताजन्य रागद्वेष की स्वीकृति नहीं है।[3]

---

१. If We are underdistanced we shall be too subjective and practical ; if we are over distanced we shall be too cold and withdrawn.

—Malvin Rader (Art and Human Values, p. 57, Prentice Hall. 1976)

२. Again and again we are told to think and worry about the prevalence and dangers of inappropriate responses about the naive playgoer who rushes on stage to strangle Iago, about the reader who likes or dislikes a character or portrait because the character reminds him of his Aunt Salley.

—With respect to reader, P. 38

३. अत एव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती तादात्म्यादेव।

(- नाट्यशास्त्र, भाग १, अभिनव भारती, पृ० २७६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भट्टनायक की साधारणीकरण विषयक अवधारणा परम्पराप्राप्त अवधारणाओं की निषेधमूलक अपेक्षाओं के पूरक रूप में ही अपना मौलिक स्वरूप ग्रहण करती है। पूर्ववर्ती अवधारणाओं को स्वीकार करने से भट्टनायक के अनुसार रामादि की भावात्मक सत्ता को या तो सामाजिक से असम्बद्ध मानना पड़ता या सामाजिक के अनुभव-स्मृति आदि को ही रसानुभूति का प्रेरक कारण मानकर सामाजिकगतत्वेन रस की प्रतीति स्वीकार करनी पड़ती। स्पष्टतः इन दोनों अतिवादों का निराकरण नाट्यानुभूति को अनुभव, स्मृति आदि से विलक्षण भाव्यमान स्तर पर संवेद्य मानने से ही संभव है।[1]

निश्चय ही स्वगत-प्रतीति के निषेध को निविड-निज-मोह-संकटकारिता के समानान्तर व्याख्यायित कर भट्टनायक ने नाट्यानुभव अथवा काव्यानुभूति में सामाजिक की रागद्वेषमूलक भावप्रवणता अथवा व्यक्तिपरकता को नियंत्रित करने की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की ओर इंगित किया है। निजसंविद्विश्रान्ति की भूमिका प्रमाता की स्वगत प्रतीति को समाहित-मनस्कता (व्यग्रता के अभाव) में परिणत कर देती है। पाश्चात्य समीक्षक भी सामाजिक की आत्मानुभूति को उस अर्थ में अग्राह्य मानते हैं जिसमें वह रसानुभूति में व्याघात उपस्थित करता है।[2] अन्यथा आत्मगतत्व का एकान्त निषेध नहीं किया जा सकता। समस्या का उद्भव प्रमाता के अन्तश्चैतन्य की इस संपृक्ति एवं निःसंगता की द्वैत भूमि पर होता है।

सामाजिक की अनुभवात्मक प्रतीति की अस्वीकृति का अर्थ साधारणीकरण के विस्तार को सीमित करना नहीं है। राम के सेतुबन्ध या हनुमान के समुद्रलंघन जैसे असाधारण कृत्यों में साधारणीकरण का अवकाश तब नगण्य रह जाता है जब प्रमाता के सीमित अनुभव अथवा स्मृतिमूलक संस्कार को ही काव्यानुभूति के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया जाता है। वस्तुतः

---

२. भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो अनुभव स्मृत्यादि विलक्षणेन।

(- वही, पृ॰ २७७)

२. Until the subjective, personal and emotional are seen as inevitable and essential parts of reading and not as intrusions and fallacies the problem cannot even be recognized.

—W.J. Slatoff (With Respect to readers, P. 38)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

देवतादि के श्रृंगारिक अथवा असाधारण लोकोत्तर (अलोकसामान्य) कृत्यों एवं सीता, पार्वती जैसे आराध्य पात्रों की प्रणयचर्या के वर्णन को प्रमातृगत स्तर पर संवेद्य स्वीकार करने में ही साधारणीकरण की प्रासंगिकता विशेष रूप से प्रमाणित होती है।

भाव्यमान होकर वे मानवीय नियति से अपना सम्बन्ध जोड़ते तथा उसे अधिक गहन स्तर पर परिभाषित करते हैं। भट्नायक ने विभावादि के साधारणीकरण को इसी भाव्यमानता (भाव सत्य में रूपान्तरण) के आधार पर भावकत्व व्यापार की आत्मा उद्घोषित किया है। इन संदर्भों का विवेचन साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका की स्पष्ट व्याख्या में सहायक होगा।

साधारणीकरण का विधि-पक्ष

काव्य-प्रयुक्त शब्दों की रागप्रवण कलात्मक अभिव्यंजना में परिणति, तज्जन्य अनुभूति के कल्पनात्मक संस्कार, परिणामतः अनुभव एवं लौकिक स्मृति से भिन्न स्तर पर वस्तु एवं पात्र के भावात्मक रूपान्तरण भट्नायक की विवेचन प्रक्रिया के प्रमुख बिन्दु हैं। सहृदय की चेतना की बाह्य एवं आभ्यन्तर वस्तु—व्यक्ति संसर्गो-से मुक्ति एवं पुनः आत्मसाक्षात्कार के स्तर पर काव्योपकरणों के निर्विशेषीकृत भोग के विविध संदर्भ साधारणीकरण के विधि-पक्ष की आन्तरिक संरचना में योग देते हैं। वस्तुतः स्वगत-प्रतीति इत्यादि के निषेध के अनन्तर इन संदर्भों की उद्भावना अप्रत्याशित नहीं रह जाती। भट्टनायक ने अत्यन्त सूक्ष्म कौशल से काव्यानुभूति के निषेध पक्षीय लौकिक वस्तुनिष्ठ संदर्भों को ही अनुचिन्तनात्मक (कल्पना) व्यापार में परिणत कर आत्मपरक बना दिया है। अभिनवभारती[1] तथा

---

१. तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

(- नाट्यशास्त्रम्, भाग १, अभिनवभारती, पृ० २७६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

लोचन[1] में प्रस्तुत अवधारणाओं के विश्लेषण से उपर्युक्त तथ्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है। इस अनुक्रम में उन्होंने स्वगत प्रतीति की निषेधमूलक भूमिका के स्थान पर निज संविद्विश्रान्ति की अवधारणा प्रस्तुत की है। इसी प्रकार सीतादि के अविभावत्व एवं देवतादि के साधारणीकरण की अयोग्यता के समानान्तर विभावादि की भाव्यमानता (साधारणीकरण) की संकल्पना है जो विभावों के मूल में निहित लौकिक सम्बन्धों के अतिक्रमण की स्वाभाविक-शक्ति को काव्यानुभूति के केन्द्र में प्रतिष्ठित करती है। स्पष्टतः 'सामाजिक प्रत्यविभात्वात्' के मूल में विभावों की लौकिक स्थिति की प्राक्कल्पित अवधारणा का प्रत्याख्यान है। परवर्ती चिन्तन में यह संदर्भ अधिकाधिक स्पष्ट होता गया है।[2] भर्तृहरि के साक्ष्य पर विश्वनाथ का कथन है कि शब्दों में उपस्थापित होते ही लौकिक कारणों में एक लोकोत्तर चेतना आविर्भूत होती है जिससे वर्णित पात्र एवं स्थितियाँ प्रत्यक्षायमाण हो उठती हैं।[3]

---

१. तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोऽशभूता व्यापाराः। तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात् तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः, यद्वशादभिधा विलक्षणेव। तच्चैतद् भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः।

(- लोचन, पृ० १८२-१८३)

२. ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः विभाव्यन्ते आस्वादङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः' इति विभावा उच्यन्ते।
- तदुक्तं भर्तृहरिणा

३. 'शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥'

(- साहित्यदर्पण (विमला), पृ ६४)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इसी क्रम में शब्दानुमान के स्थान पर काव्य में वे दोषाभावगुणालंकार युक्त शब्दव्यापार की प्रतिष्ठा करते हैं। स्वकान्तास्मृति के असंवेदन तथा रत्यादि युक्त रामादि विभावों की स्मृति की अयुक्तता के समानान्तर वे अनुभव स्मृत्यादि-विलक्षण काव्यानुभूति की आत्मसाक्षात्कारात्मक प्रकृति को परिभाषित कर साधारणीकरण के विधि पक्ष का स्थापत्य निर्मित करते हैं। इस चिन्तन के क्रम में ही उन्होंने प्रत्यक्ष लौकिक अनुभूति से भिन्न कालानुभूति की मूल प्रकृति का उद्घाटन किया है। कवि की अनुभूति लोकोन्मुखी किन्तु अनन्यसाधारणविशिष्ट होती है किन्तु कलात्मक अभिव्यंजना में पुनर्भावित होकर अपनी मूल प्रकृति को अतिक्रमित करती हुई विशेष की अनुबंधी नहीं रहती। पुनर्भाव्यमान होकर तथा लोकसामान्य निर्दिष्ट रूढ़ स्थिति को खण्डित कर संख्यातीत रूपों में जीवन-संदर्भों को परिभाषित करती हुई वह प्रमाता की चेतना के व्यापकतर स्तरों को समाहित करती है। यही कवि, अनुकार्य, अनुकर्ता (अभिव्यंजना) एवं भोक्ता की विशिष्ट चेतना में निर्विशेष का उद्भावन हैं। सहृदय के रूढ़ अनुभव एवं स्मृतिखण्ड इस अन्तर्भावन में पुनर्व्याख्यायित होते हैं। राम के असाधारण ऐतिहासिक कृत्य सहृदय के लिए अदृष्ट अथवा अनुपलब्ध हैं किन्तु स्थूल इतिवृत्त में निहित भाव-सत्य उसका चिर अनुभूत सत्य है। उनमें निहित मानवीय औदात्य के आद्य बिम्बों का वह भावात्मक स्तर पर पुनरनुसंधान करता है। यही अनुभव-स्मृति की अतिक्रान्त चेतना है जो पर ब्रह्म की अभिकल्पना के समान निःसार अविद्या-कल्पित जीवनानुभवों को संगति एवं औचित्य प्रदान करती है।

पुनर्व्याख्या के स्तर पर आधुनिक संदर्भ से परब्रह्मास्वाद की अभिकल्पना जहाँ काव्यवस्तु में सहृदय की तन्मयता की व्यंजना करती है वहाँ निःसार प्रतीत होने वाले जीवन-संदर्भों में निहित आभ्यन्तर सत्य (औचित्य) के पुनरनुसंधान की संभावना भी व्यक्त करती है। भट्टनायक ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है।[1]

प्रकारान्तर से यह अभिकल्पना प्रमाता की द्वैधी चेतना को भी स्वीकृति देती है जिसमें कवि अथवा सहृदय काव्य-वस्तु में अन्तर्लीन रहता हुआ भी

---

१. नाट्यशास्त्र, भाग १, अभिनवभारती, पृ० ५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उस तादात्म्यानुभूति का निरपेक्ष द्रष्टा की भूमि से पर्यालोचन करता है।[1]

सहृदय की प्रातिभ चेतना भाषा (सृष्टि) के माध्यम से अभिव्यंजित एवं संवेद्य कवि कल्पना के अनन्तवैचित्र्य को चेतना के विविध स्तरों पर समाहित करती हुई उसमें निहित मौलिक एकरूप चैतन्य का ही पुनरनुसंधान करती है। यह तथ्य भी ब्रह्मास्वाद की परिकल्पना के समानान्तर आधुनिक परिवर्तित चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया गया है।

काव्य में अनुभूत जीवन-सत्य अपने वैशिष्ट्य से संवलित होकर ही अभिव्यक्त होता है। आनन्दवर्द्धन ने स्पष्टतः एकान्तसामान्यता का निषेध करते हुए कवि के वैशिष्ट्य को स्वीकृति दी है। वैशिष्ट्य में निहित साधारणीभूत चैतन्य की प्रक्रिया व्यापारमूलक है। अभिधा-शक्ति की प्रकृति ही ऐसी है कि चेतन अथवा अचेतन रूप वाच्यार्थ वैयक्तिक वैशिष्ट्य के कारण अनन्त होते हैं। स्थान एवं देश अथवा काल इस अनन्त वैचित्र्य के नियामक नहीं हैं।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि कविकल्पना रूढ़, सुनिर्दिष्ट बिम्वों की समानता को खण्डित करके ही उन्हें निर्विशेषत्व प्रदान करती है। काव्य में प्रतिभासित वाच्यार्थ में कवि के व्यक्ति-वैशिष्ट्य को उन्मीलित करने वाली साधारणीभूत शक्ति निहित है। आनन्दवर्द्धन के इस विवेचन में भट्टनायक के चिन्तन की पृष्ठभूमि निहित है। उनके वाच्य, प्रतिभासन तथा ग्राह्य वैशिष्ट्य के त्रिक को[2] अभिधा भावना एवं भोजकत्व के समानान्तर देखा जा सकता है।

---

१. C.F. We can share the experience of a Gulliver, say, feel that experience, and at the same time view him with detachment and view with detachment the part of ourselves that is identifying.

W.J. Slatiff (With Respect to Readers,)

२. उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम्। तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवैचित्र्यम् वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः। वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते।

(- ध्वन्यालोकः, पृ० ३५६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भट्टनायक के काव्य-व्यापार का प्रस्थान विन्दु अभिधा व्यापार है। अभिधा व्यापार (शब्दार्थ तथा अलंकार के भावप्रेरित संयोग) से उपस्थापित काव्यार्थ, भावना व्यापार से भावित होकर भोगीकरण व्यापार से सिद्धियुक्त पुरुषों के द्वारा साक्षात्कृत किया जाता है।[1] साधारणीकरण भावना-व्यापार के अन्तर्गत आता है जिसका माध्यम निर्देशपरक संदर्भों को अतिक्रमित करने वाली काव्यगत अभिधा है।

अभिधा

अभिधा, भावना एवं भोगीकरण के त्रिक का सापेक्ष महत्त्व स्पष्ट करने के लिए उनके अन्तःसंवन्ध के वृत्त में तीनों पर पृथक् विचार करना वस्तु-सत्य के अन्वेषण की दृष्टि से आवश्यक है। टीकाकारों एवं समीक्षकों ने भावना एवं भोगीकरण से सापेक्ष एवं निरपेक्ष अभिधा के विषय में जो अभिमत व्यक्त किये हैं, उनके तुलनात्मक अध्ययन से उक्त व्यापारों की स्वरूप एवं प्रक्रिया अधिक स्पष्ट हो सकती है। इस संदर्भ में अभिनवभारती लोचन तथा काव्य-प्रकाश की विविध टीकाओं के प्रासंगिक अंशों का आकलन एवं पर्यालोचन अपेक्षित है। अभिनवभारती के तत्सम्वन्धी केन्द्रीय वाक्य 'अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः'...के विभिन्न अनुवाद इस प्रकार हैं :—

अभिधा के अतिरिक्त शव्द-शक्ति के द्वितीय अंश व्यापार भावकत्व व्यापार से भाव्यमान रस भोग नामक व्यापार से भोगा जाता है। (डा० दशरथ द्विवेदी, पृ० २४)[2]। अभिधा के वाद द्वितीय अंश पर होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान (आचार्य विश्वेश्वर)[3]। अभिधा के

---

१. अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती सतः॥
भावना भाव्य एषोऽपि शृंगारादिगणो हि यत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥
- नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २६

२. अभिनव रससिद्धान्त (वाराणसी-१९७३), पृ० २४

३. हिन्दी अभिनवभारती (दिल्ली विश्वविद्यालय-१९७३), पृ० ४६४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

समान दिशा वाला अद्वितीय शास्त्रान्तर में नहीं होने से अपूर्व (एवं हि अद्वितीयेन शास्त्रान्तरेषु तदभावात् अपूर्वेण अभिघातः अभिधासमानपथिकेन अभिधैकदिशा भावकत्वव्यापारेण। अभिधैकदिक्त्वं च समानव्यापृतिकर्तृत्वम्। अभिधा यथा शब्दार्थोपस्थापने व्यापृणोति तथायं व्यापारोऽपि अभिनेयानभिनेयार्थानामर्थानां साधारणीकरणे व्यापृणोति।[1] विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा शक्ति के पश्चात् द्वितीय अंश पर होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान (बाबूराम शुक्ल)[2]। Ras is revealed (bhavyamana) by a special power assumed by words in poetry and drama, the power of revelation (bhavana)-to be distinguished from power of denotation (abhidha)- consisting of the aetion of generalizing the determinations, etc.[3]

डा० शुक्ल, द्विवेदी एवं नौली के अनुवाद का आशय यह है कि 'अभिधा' के द्वारा भाषा की उस निर्देशपरक वोध-शक्ति की ओर इंगित किया गया है जो काव्य-भाषा से भिन्न निर्देशक-निर्देश्य-सम्वन्धों से अनुशासित है। भट्टनायक काव्य-भाषा के रागात्मक अनुभव-संसार की भाषिक प्रक्रिया के प्रथम स्तर से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए अभिधा को पूर्वपक्ष के स्तर पर प्रस्तुत करते हैं। काव्य का केन्द्रीय तथ्य अभिधा से भिन्न भावना का विषय है। इस संदर्भ में अभिधा काव्यानुभूति के अन्तर्वृत्त से बहिष्कृत भावना सिद्धि का माध्यम मात्र है। आचार्य विश्वेश्वर अभिधा को काव्यार्थ के उपस्थित करने का प्रथम सोपान मानकर उसे काव्यानुभूति की परिधि में रखते हैं तो मधुसूदन शास्त्री उसे साधारणीकरण (भाव्यमान अर्थ) की दिशा में अग्रसर अपूर्व अभिधा अथवा भावकत्व व्यापार की समानधर्मा मान कर साधारणीकरण के केन्द्र में ही प्रतिष्ठित करते हैं। इन तीनों की मध्यवर्ती स्थिति यह है कि भावना तथा भावकत्व से उद्दीप्त प्रत्युद्दीप्त होकर अभिधा गुणात्मक स्तर पर अपने मूल स्वरूप से भिन्न अथवा परिवर्तित हो जाती है। अर्थात् काव्य की अभिधा-शक्ति शास्त्रादि में प्रयुक्त अभिधाशक्ति जैसी शुद्ध नहीं होती, उसमें भावना एवं भोगीकरण इन दो वृत्तियों का सम्मिश्रण

---

१. नाट्यशास्त्रम् (हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी-१९७१), पृ० ६४४

२. हिन्दी नाट्य-शास्त्र, भाग-१ (चौखम्बा-१९७२), पृ० २४८

३. R. Gnoli : The Aesthetic Experience, Etc. P. 45

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

होता है। यह अभिधा का धरातल है, जिसमें शास्त्रभिन्न काव्यात्मक शब्द की बोध शक्ति के वैशिष्ट्य को स्वीकार किया गया है।[1]

काव्यभाषा के निकष पर काव्यात्मक शब्द की व्यंशरूपता निर्धारित की गई है, जिसमें अभिधा में भावकत्व एवं भोजकत्व का अनिवार्य संसर्ग रहता है। इसी कारण अभिधा विलक्षण प्रतीत होती है। यद्वशादभिधा विलक्षणेव। तन्त्र और शास्त्रों में भी अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु काव्य में श्लेष पर आधृत अनेकार्थी शब्दों में विशिष्ट रागात्मक एवं कल्पनात्मक अनुषंग संयुक्त रहते हैं, अतः काव्य की अभिधा अलंकृत शब्दार्थपरक होती है। एम्पसन ने भाषा की अनेकार्थी प्रवृत्ति की काव्यगत संभावनाओं की अनेकरूपताओं का उल्लेख किया है। अभिधा तथा काव्य-भाषा के इस अन्तःसम्बन्ध के विवेचन से पूर्व काव्य-प्रकाश के विभिन्न टीकाकारों की इस-संदर्भ में अभिधा विषयक अवधारणाओं पर दृष्टि डाल लेना भी अप्रासंगिक न होगा।

तन्मते हि वाच्यविषयाऽभिधा व्यापारान्तरभावीरसादिविषयो भावकत्वनाम व्यापारः स्वीकृतोऽस्ति···यदि ह्यभिधा व्यापारान्तरभावी भावकत्वव्यापारो नांगीक्रियते तदा शास्त्रेभ्यःकाव्यनाट्ययोः किमन्तरं स्यात् (माणिक्यचन्द्र-संकेतः)[2]

अभिधात इत्येनेन लक्षणात् इत्यपि बोध्यम् अभिधाविलक्षणैव रस प्रतीतिः (चण्डीदासदीपिका)[3]

अभिधातो द्वितीयनेति तसिला भावकत्वव्यापारस्याभिधानन्तर-भावित्वं द्योतितम् (श्रीविद्याचक्रवर्त्तिन्-सम्प्रदायप्रकाशिनी)।[4]

एवं विरतायामभिधायां भावकत्वव्यापारस्याविर्भावः (विवरण)[5]

अभिधालक्षणाद्व्यभिन्नेन भावकत्वाख्यव्यापारेण (काव्यदर्पण)[6]

---

१. ध्वन्यालोक लोचन (बालप्रिया सहित) चौखम्बा-सं० १९९७ पृ० १८२
२- काव्यप्रकाश संकेत पृ० ७३
३. दीपिका पृ० १०४
४. सम्प्रदायप्रकाशिनी, पृ० ६८
५. विवरण पृ० १२७
६. काव्यदर्पण, पृ० १४६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अभिधानं कर्तृवाक्यसम्भूतशब्दार्थालङ्कारादिविषयं, भावकत्वं··· अभिधातः अभिधानकर्तृत्वव्यापारात् (बालचित्तानुरंजनी)[1]

अभिधात इत्युपलक्षणम्। लक्षणात इत्यपि बोध्यम् (सारबोधनी)[2]

द्वितीयेनेत्युपलक्षणं तेन यस्य मते एक एवाभिधाव्यापारस्तन्मते द्वितीयेन यस्य द्वौ तन्मते तृतीयेन (काव्यप्रकाशदर्पण)[3]

शास्त्रादिस्वभिधैवेत्यस्तु नाम काव्यनाट्येषु भावकत्वं भोगकृत्त्वं च वैशेषिकम् (साहित्यचूडामणि)।[4]

शब्दभावनाऽपरनाम्नी यागादौपर्वर्तिका द्वितीया तज्जातीयाऽपरा-विभावादिनिष्ठा रसभावजननी (काव्यप्रकाशविस्तारिका)।[5]

शब्दात्मनः काव्यस्य त्रयो व्यापाराः—अभिधा, भावकत्वम्, भोजकत्वं, च। तत्राभिधा निरन्तरसान्तरार्थनिष्ठत्वेन द्विधा···एवं च काव्ये नाट्ये द्वितीयव्यापारेण (काव्यप्रदीपः)।[6]

मुख्यार्थबाधानवतारेऽपि तथोपस्थितिर्न लक्षणयागतार्थत्वम्। (प्रभा)[7]

द्वितीयेन अन्येन-शब्दस्याभिधाव्यापार तत् काव्यनाट्ययोः तद्विलक्षणं भावकत्वभोजकत्वनामकं व्यापारद्वयमतिरिक्तमस्ति काव्यार्थबोधोत्तरमेव तत्राद्येन भावकत्वव्यापारेण (बालबोधिनी)।[8]

उपर्युक्त व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि अभिधा को, सम्प्रेषण की प्रथम क्रिया को निष्पन्न करने वाली शब्द शक्ति के स्तर पर व्याख्यायित करने

---

१. बालचित्तानुरंजनी, पृ० ६८
२. सारबोधिनी, पृ० ६८
३. काव्यप्रकाशदर्पण, पृ ६९
४. काव्यप्रकाश-साहित्य चूड़ामणि, पृ० १११
५. काव्यप्रकाश विस्तारिका पृ० ९७
६. काव्य-प्रदीपः, पृ० ६६
७. प्रभा टीका, पृ० ६६
८. बालबोधिनी, पृ० ९१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

वाली अवधारणाएँ अपेक्षाकृत कम हैं। अधिकांश व्याख्याएँ भावकत्व नामक परवर्ती व्यापार वैशिष्ट्य को अभिधा-लक्षणा व्यापार से भिन्न स्तर पर प्रमाणित करती हैं। किन्तु, यह व्याख्या काव्य के रागात्मक सदर्भ में ही है। अभिधा के द्वारा काव्यार्थ के सम्प्रेषण की उस प्रक्रिया की ओर ही प्रायः संकेत किया गया है, जिस में अलंकृत शब्दार्थ अभिधेय होकर भावना से भावित होते हैं। अन्यत्र शिगभूपाल ने भावना व्यापार को अभिधा व्यापार का ही पर्याय कहा है।[१] कर्णभूषणकार के अनुसार अभिधात्मक एवं भावकत्व दोनों व्यापार संयुक्त होकर विभावादि का साधारणीकरण करते हैं। रस-चन्द्रिकाकार के अनुसार काव्य का कार्य अभिधा के द्वारा पदार्थोपस्थिति से सम्पन्न होता है।[२] नाट्य में यह कार्य अभिनय का है। वस्तुतः अभिधा-व्यापार का उल्लेख केवल भावकत्व अथवा भोगीकृति से भिन्नता दिखाने के लिए ही नहीं किया गया है, काव्य के विशिष्ट परिवेश को मूर्त्त करना भी यहाँ अभीष्ट है। भावकत्व व्यापार केवल शब्दों से निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि अर्थ के परिज्ञान के अभाव में यह सम्भव नहीं है। अर्थ-मात्र से भी इसकी निष्पत्ति नहीं होती, क्योंकि इस स्थिति में वह शब्दान्तर से भी द्योतित हो सकता है। शब्द अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध ही सम्प्रेषण की प्राथमिक क्रिया को पूर्ण करता है। भावकत्व और भोजकत्व व्यापार में शब्द और अर्थ क्रमशः गौण होते जाते हैं तथा उनके अन्तःसंबंध से युक्त, किन्तु किंचित् भिन्न संवेदना उभरने लगती है। अभिनव का यही अभिमत है।

उक्त अभिमतों से यह स्पष्ट है कि काव्यार्थ के सम्प्रेषण में प्राथमिक क्रिया अभिधा द्वारा निष्पन्न होती है, किन्तु काव्य की अभिधा वाच्यार्थ की उपस्थिति मात्र का साधन नहीं है। इसमें अलंकार और गुण की संस्कृति के द्वारा भावनोपनीत रागात्मकता का भी संस्पर्श रहता है। रिचर्ड्स ने काव्यभाषा के रागात्मक व्यापार का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि सर्वप्रथम श्रोता के अवधान केन्द्र में वस्तु-स्थिति का बोध उभरता है।

---

१. अभिधापर्यायेण साधारणीकरणात्मना भावनाव्यापारेण।
(रसार्णवसुधाकरः पृ० १०४)

२. काव्येऽभिधया पदार्थोपस्थितिः नाट्येऽभिनयेनेति विशेषः।
(रसचन्द्रिका पृ० ४५)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

क्रमशः उस बोध के प्रति चिन्तन तथा कल्पना उद्दीप्त होती है। तथ्यों तथा भावों के साथ केन्द्रीय अभिप्रवृत्तियाँ संयुक्त होती हैं तथा नयी अभिवृत्तियां जागृत होती हैं। श्रोता तक पहुँचते पहुँचते उनमें भावनाओं तथा एषणाओं का समावेश हो जाता है। विषय के अनन्तर वक्ता की अभिप्रवृति श्रोता अथवा पाठक की ओर उन्मुख होती है। आशय यह है कि चेतन अथवा अचेतन स्तर पर कवि पाठकीय प्रतिक्रिया के प्रति जागरूक अवश्य होता है। वह जिस अर्थ को सम्प्रेषित करता है, उसका प्रभाव, उसकी समस्त सम्प्रेषण-प्रक्रिया तथा शब्द-चयन पर पड़ता है। यह बात भिन्न है कि वक्तव्य के रूप में न रह कर कवि का उद्देश्य बहुत कुछ परोक्ष रहता है तथा सम्पूर्ण संरचना के माध्यम से ऐसे प्रासंगिक तत्त्व की ओर इंगित करता है जो अपने मौलिक अस्तित्व का अतिक्रमण सा प्रतीत होता है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि काव्य में विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी के संयोग की जिस स्थिति को रसानुभूति के स्तर पर परिभाषित किया गया है, उसमें विभाव मूलतः वस्तु-शृंखला और घटना व्यापार के अन्दर ही सक्रिय होते हैं। इनका अनुभावन ही विविध संवादी और विसंवादी अनुभूतियों से संवलित हो कर रसास्वाद की कोटि में पहुँचता है। अतः सर्वप्रथम विभावों की उपस्थिति का परिज्ञान आवश्यक है। लोक में भावों के उद्दीपक कारण स्वतः उपस्थित होते हैं तथा प्रीतिकर एवं विशेपकर मिश्रित अनुभूतियों को जागृत करते हैं। काव्य में विभाव शब्द से ही उपस्थित होते हैं। शब्द से उपहित होने के कारण विभावों का ताटस्थ्य और आत्मतत्व लुप्त हो जाता है। शब्द मानव मात्र की सम्पत्ति है[1], मानसिक अन्तराल के द्वारा लौकिक अनुभूतियों की उद्वेजक प्रकृति को समाप्त कर उन्हें तरल तथा आह्लादजनक बनाते हैं। अतः भट्टनायक काव्यार्थ की उपस्थिति में अभिधा को प्रथम स्थान देते हैं। काव्य में स्रष्टा अनुभूति को शब्दबद्ध करता है तो पाठक भी सर्वप्रथम शब्दों के मुख्यार्थ के परिज्ञान के द्वारा ही काव्यार्थ का प्रतिभावन करता है। नव्य पाश्चात्य आलोचन में काव्य की अन्तर्वस्तु तथा बाह्य संरचना के अन्तस्तनाव को विरोधाभास,

---

१. प्रतिपदार्थनिष्ठसाधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, शब्दादिविषयमयीभिः

(अभिनवभारती, दिल्ली-२९७३, पृ० ४७६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रतीकान्वयन तथा भाषिक भंगिमा के स्तर पर व्याख्यायित किया गया है। आशय यह है कि अभिधा केवल वाच्यार्थ की प्रस्तुति तक ही सीमित नहीं है, सम्पूर्ण काव्य-परिवेश को मूर्त करने में ही उसकी प्रासंगिकता है। **अभिधातोऽद्वितीयेनांशेन भावकत्व व्यापारेण** में द्वितीय अथवा अद्वितीय प्रयोग से विशेष अन्तर नहीं आता। क्योंकि दोनों ही संदर्भों में वाचक-निष्ठा की अनावश्यकता की ओर संकेत है।

लक्षण एवं अभिधा

भरत ने काव्य-लक्षणों की परिभाषा के स्तर पर भट्टनायक के अभिधा व्यापार के कार्यफलनों का पूर्वाभास दिया है। अभिधा व्यापार के द्वारा लौकिक स्थितियाँ गुणालंकारसंस्कृत शब्दों में परिवर्तित हो कर किस प्रकार सम्प्रेषणीय बनती हैं, काव्य-लक्षणों की उद्‌भावना के द्वारा भरत ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है :—

'काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः
सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु ।

(ना० शा० १६/४२)

इस संदर्भ में अभिनव का कथन है कि बीज रूप अर्थ का क्रमशः निर्वाह करने वाला लक्षण ही है। लक्षण भावार्थगत हैं अर्थात् रस के उचित विभावानुभाव के द्वारा स्थायिभाव (काव्य में वर्णित लौकिक विषयों के विभावत्व में संक्रान्त होकर) रसत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

काव्य-भाषा का प्रयोजन भाव-शृंखला की उद्‌बुद्धि है। रस के अनुकूल ही भाषिक प्रयोग अपेक्षित होते हैं। शास्त्र में शब्द प्रमुख होता है और पुराणों में अर्थ। काव्य में श्रोता उस भावना का अनुसंधान करता है, जिसके द्वारा शब्दार्थ से उपस्थित वस्तु-शृंखला मानस साक्षात्कार में विपरिवर्तित होती है। भरत ने इसी परिप्रेक्ष्य में काव्यार्थ के क्रम का निर्वाह करने वाले लक्षणों का विवेचन किया है। इसकी तीन प्रक्रियाएँ हैं—प्रथम परिस्पन्द है, अर्थात् रसों के अभिव्यंजन में समर्थ माधुर्यादि गुणों का उपनिबन्धन करना प्रतिभावान् कवि का ही सामर्थ्य है।[1] शब्द तथा वस्तु के अन्तःसंबंध के

---

१. कवेर्यः प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्दः तद्‌व्यापारबलोपनता गुणाः, प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यंजनसामर्थ्यं माधुर्यादिरुपनिबन्धनसामर्थ्यं, न सामान्यकवेः। (अ० भा०, नाट्यशास्त्रम्, भाग-२, हिन्दुविश्वविद्यालय, वाराणसी पृ० १२५४)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मौलिक स्वरूप की अभिज्ञता द्वितीय व्यापार है[1], इसमें कवि इस शब्द से इस वस्तु का वर्णन करूँगा, इस भूमिका पर आरूढ़ होता है। तृतीय परिस्पन्दन व्यापार में शब्द और वस्तु का अन्तःसम्बन्ध क्रमशः अर्थ की विविध भंगिमाओं तक व्याप्त हो जाता है।[2] शब्द रूप शरीर का औदार्य परस्पर अन्वित होकर काव्य शरीर को आकार देते हैं। शब्द एवं अर्थ के संस्कार करने तथा कवि के अनुभूति परिवेश को सक्रिय करने में इन लक्षणों की महत्वपूर्ण भूमिका है। शब्दार्थ का यही परिस्पन्द लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण वर्णन से संयुक्त होकर प्रबन्ध की आन्तरिकता को अभिव्यक्त करता है जो मूलतः कवि के अभिप्राय का ही बाह्य रूप है।

वस्तुतः काव्य मूलतः वर्णनीय अर्थ वाला होने से ही काव्य-संज्ञा से अभिहित होता है। रस काव्यार्थ ही है तथा काव्यार्थ अभिधेय अर्थ अभिधान शब्द और अभिधा में विद्यमान रहता है।[3] अभिनव का इस संदर्भ में यह भी कथन है कि अलंकारादि से निरपेक्ष निसर्ग सुन्दर अभिनेय विशेष काव्यों में दृष्टिगोचर होते हैं। इसके चारुत्व का कारण भी लक्षण ही है। इसके अतिरिक्त शब्द की आभ्यन्तर प्रवृत्ति भी लक्षणों के द्वारा ही उन्मीलित होती है। श्रोता के कर्णविवर में प्रविष्ट होते ही शब्द रसाभिव्यक्ति में समर्थ होता है।[4] पुनः यही आवर्तमान होकर क्रमशः वर्णरूप तथा पद में परिणत होकर शोभा का हेतु बनता है। कहने का आशय यह है कि शब्द तथा अर्थ के मध्यवर्ती आयामों को समाहित करके ही कवि विभिन्न रसों के अनुकूल विभावादिवैचित्र्य का सम्पादन करता है। इसकी प्रेरक शक्ति त्रिविध अभिधा ही है। 'इदमनेन शब्देनानयेतिकर्तव्यतयाऽमुनाशयेनेत्थंभूतबुद्धिजननाय ब्रुवे इति कविः प्रवर्तते, स तदाभूतः रसवत्काव्यं विधत्ते। तत्र चित्तवृत्त्यात्मकं

१. अनेन शब्देनेदं वस्तु वर्णयामीत्येवंभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापार-संपाद्यास्त्वलंकाराः। (- वही - पृ० - वही -)

२, शब्दानमीभिः शब्दैरर्थानामीभिरर्थैः संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः परिस्पन्दः। - वही - पृ० - वही -

३. तत्र चित्रवृत्त्यात्मकं रसं लक्षयंस्तत्तद्रसोचितविभावादिवैचित्र्यसम्पादक स्त्रिविधोऽभिधाव्यापारो लक्षणशब्देनोच्यते। (नाट्यशास्त्रम्, हिन्दु विश्वविद्यालय, पृ० १२५७)

४. तत्र शब्दस्य रसाभिव्यक्तिक्षमार्थप्रपिपादकत्वं स्वतः च श्रोत्रे च संक्रान्ति मात्रं नान्तरीयकतया। (वही - पृ० - वही -)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रसं लक्षयंस्तत्तद्रसोचितविभावादिवैचित्र्यसम्पादकस्त्रिविधोऽभिधाव्यापारो लक्षणशब्देनोच्यते।'[1] भरत ने लक्षण तथा अभिधा के अन्तःसम्बन्ध को भी स्पष्ट किया है। अभिधा-व्यापार के संक्रमित होने वाले उद्यानादि अर्थ ही रस विशेष के विभावादि भावों में परिणत होते हैं। ये लक्षण हैं, अत एव उनका काव्य में सम्यक् प्रयोग अपेक्षित है।[2] कहने का आशय यह है कि लक्षणों का प्रयोजन स्थायी भावों को रस रूप में परिणत करना ही है। काव्य में वर्णित होकर लौकिक विषय विभावादि की लोकोत्तर भूमि पर उपसंक्रान्त हो जाते हैं। यह संक्रमण अभिधा व्यापार का ही परिणाम है।

भरत द्वारा प्रतिपादित लक्षणों की मौलिक विशेषताओं को आत्मसात् करके भट्टनायक का अभिधा व्यापार गतिशील होता है। यह बात भिन्न है कि भरत के लक्षण निरूपण में सर्जन-पक्ष को आस्वादपक्ष की अपेक्षा विशेष महत्त्व दिया गया है, जबकि भट्टनायक का अभिधा व्यापार मूलतः सामाजिक की चित्तवृत्ति में क्रमशः उत्मीलित होने वाले काव्यार्थ की ही व्याख्या प्रस्तुत करता है। यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त तथा इलियट के वस्तु-निष्ठ सम्बन्ध के मूल में भी भावानुकूल शब्दार्थ-योजना की ही अन्तर्ध्वनि है उसका पूर्वाभास भरत के लक्षण सिद्धान्त में निहित है। काव्यों में उद्रिक्त होने वाले भाव यदि कवि के कथनीय अर्थ का अनुगमन करते हैं तो अभीष्ट रसानुभूति में समर्थ होते हैं। **काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यग् प्रयोज्यानि यथारसं तु** (ना० शा० १६/४)। ध्वनिकार के अनुसार काव्य में अभीष्ट चारुता कवि के द्वारा प्रयुक्त उक्ति से भिन्न उक्ति द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकती।

'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयो भवेत्॥[3]

इलियट के अनुसार भाव के अनुरूप वाह्य वस्तु-विधान की योजना कलात्मक अपरिहार्यता है।[4] अभिनव के अनुसार अभिधा व्यापार विभाव

१. नाट्यशास्त्रम् पृ० - वही -
२. यदभिधाव्यापारोपसंक्रान्ता उद्यानादयोऽर्थास्तद्रसविशेषविभावादिभावं प्रतिपद्यन्ते तानि लक्षणानीति सामान्यलक्षणम्।
- वही - पृ० १२५६
३. ध्वन्यालोक (सं० डा० नगेन्द्र, सं० २०१६) पृ० ६१
४. The artistic 'inevitability' lies in this complete adequacy of the external to the emotion...(The Sacred Wood p. 101)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अनुभाव और व्यभिचारी भावों के वाचक शब्दों के अनुरूपता में ही गतिशील होता है। निष्कर्ष यह है कि कवि का अभिधा व्यापार केवल वाच्यार्थ तक सीमित नहीं है। इसी के कारण लौकिक विभाव रसोचित विभाव में परिणत होते हैं। अभिधा का यह महत्त्व प्रकारान्तर से काव्य की व्यापार प्रधानता को भी परिभाषित करता है। अभिनव के अनुसार शब्द-व्यापार-प्राधान्य शब्द के महत्त्व को शास्त्र की भूमि पर प्रतिष्ठित करता है। इतिहास अर्थ तत्त्व से युक्त होता है तथा जहाँ शब्द अर्थ गौण होते हैं वहाँ व्यापार की ही प्रधानता होती है। यह भूमि काव्य की है।[1]

वस्तुत: भट्टनायक ने काव्य-व्यापार के केन्द्र में अभिधा को जिस प्रकार प्रतिष्ठित किया है, उससे वाच्य-वाचक सम्बन्ध का द्योतन मात्र ही नहीं होता, अपितु शब्दार्थ को गौण वना कर उभरने वाली विशिष्ट संवेदना मूर्त होती है। यही कारण है कि परवर्ती समीक्षकों ने भट्टनायक की अभिधात्मकता को व्यंजना की समकक्षता में ही परिभाषित किया है। रुय्यक के अनुसार **भट्टनायकेन तु व्यंग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्।**[2] रसविवेककार ने इस संदर्भ में कहा है कि काव्य में विभावों से रस-निष्पत्ति इस कारण होती है कि बाह्य जगत के पात्र और घटना-शृंखलाएँ विभाव में परिणत हो कर शब्द प्रमाण से वेद्य होती हैं।[3]

इस संदर्भ में भामह की वक्रोक्ति-विषयक अवधारणा भी उल्लेखनीय है। भामह के अनुसार प्रसिद्ध मार्ग का उत्सर्जन करने वाली वक्रोक्ति से अर्थ का विभावन होता है। स्पष्टत: वक्रोक्ति में शब्दार्थ के कवि-व्यापार मूलक उस उपनिबन्धन का अर्थ निहित है जो सामान्य लौकिक संदर्भ को लोकोत्तर

---

१. भट्टनायकेनापि तानेव शिक्षित्वा अभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तं—
शब्दप्रधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥ इति॥
(नाट्यशास्त्रम् (हि० वि० वि०) पृ० १२५६)

२. अलंकारसर्वस्वसंजीवनी, दिल्ली-१९६५, पृ० १०

३. रसविवेक पृ० २३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कवि-कर्म में परिणत कर देता है सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।[1] वक्रोक्ति के द्वारा भामह ने भट्टनायक के भावना या भावगत व्यापार का पूर्व संकेत दिया है। सारांश यह है कि भट्टनायक की अभिधा विभावन मार्ग का अनिवार्य प्रस्थान-विन्दु है। काव्य में अर्थ-भावन की प्रक्रिया मूलतः बुद्धि और कल्पना के अन्तःसमायोजन के द्वारा विकसित होती है। काव्यार्थ में सर्वप्रथम बौद्धिक स्तर पर कवि का अभिप्राय अनुभूत होता है तथा क्रमशः रागात्मक अनुषंग उन्मीलित होते जाते हैं।

भरत के अनन्तर लोल्लट तथा शंकुक ने भी काव्य-व्यापार का महत्त्व स्वीकार किया है। शंकुक के 'काव्यबलानुसंधेय' में यह अन्तर्ध्वनि स्पष्ट है कि लौकिक अनुभूति की अपेक्षा रसानुभूति मूलतः भाषिक प्रयोग की विशिष्टता के स्तर पर ही अनुसंधेय है। शंकुक ने प्रकारान्तर से स्वशब्द-वाचकत्व दोष की ओर भी इंगित किया है। काव्य भाषा में अनुभूति का विभावन अपेक्षित है; केवल नाम रूप से अभिहित होकर ही वह उस रागात्मक सत्य में परिणत नहीं हो सकती, जिसका अनुसंधान कवि अपने विशिष्ट अनुभूति-केन्द्र में करता है। आशय यह है कि भट्टनायक की अभिधा काव्यार्थ को उस बृहत्तर आयाम में उपस्थित करती है, जिसमें लौकिक घटना तथा देशकाल के अनुषंगों से मुक्त हो कर काव्यानुभाव सर्जनात्मक पुनःअनुसंधान के रूप में संवेद्य होता है। इस संदर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जब शब्द से सीतादि व्यक्ति का परिज्ञान होता है तो वह नाम-रूपात्मक काल सापेक्ष व्यक्ति का परिज्ञान है। इस नाम-रूपात्मक आवरण के क्रमशः हटने पर जिस निर्विशेष कान्तात्व का बोध होता है, वह दिक्काल की सत्ता के निषेध के अनन्तर जीवन का विशिष्ट संदर्भ में प्रत्यवलोकन है जिसमें विशिष्ट स्थितियों को सामान्यीकृत करता हुआ जीवन-बोध अधिक विस्तृत, सघन और जटिल होता जाता है। यह बोध काल-परिदृश्य से परे ले जा कर हमें जिस सार्वभौम सत्ता का मानवीय अर्थपरक विमर्श प्रदान करता है वह यथार्थ के मौलिक सारतत्त्व की ही पुनः प्रस्तुति है। यह उस आभ्यन्तर जगत् की पुनः संरचना है जो जीवन के विभिन्न तत्त्वों की संहति और उनके परस्पर अतिक्रमण पर आधारित मूल्य बोध का पर्याय है। भौतिक तत्त्व से क्रमशः मानसतत्त्व की ओर अन्त.प्रयाण ही मानवीय सत्ता के आत्यन्तिक यथार्थ के अन्वेषण में योग देता है। इस

१. भामह, काव्यालंकार २/८५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

संदर्भ में सम्प्रेषण की भाषिक सर्जनात्मक संभावनाओं का क्षत्र क्रमशः उद्घाटित होता जाता है। क्षणिक संदर्भों से कोई विम्ब नहीं बनता; स्फोट-सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये संदर्भ प्रमाता की चेतना से टकराते विशृंखलित होते तथा समग्र प्रभाव के रूप में एक स्फोट बिम्ब में रूपायित होते हैं। काव्यार्थ-बोध की यह प्रक्रिया अर्थ-बोध की प्रक्रिया है। जिस प्रकार धुंधलके से वस्तु उभरती तथा फिर मूल प्रत्यय के संदर्भ में निर्णीत होती है, उसी प्रकार अभिधा से काव्यार्थ-बोध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। पूर्व प्रतीतियाँ संस्कार बनती हैं तथा परस्पर संयुक्त हो कर समग्र बोध के रूप में मूर्त्त होती हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अभिधा, अभिधान और अभिधेय के नियत सम्बन्ध को अभिव्यक्त करती हुई विशिष्ट से अविशिष्ट की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया का भी आभास देती है। विभावादि प्रारम्भ में विशिष्ट रूप में अवतीर्ण होते हैं अतः उनकी शक्ति प्रतिवद्ध होती है। किन्तु शब्दार्थ के अन्तःसंबंध से वे क्रमशः अपने आन्तरिक अर्थस्तर को अनूदित करते हुए जब निर्विशेषत्व की ओर उन्मुख होते हैं तो अभिधा एक स्तर पर उस विशिष्ट अर्थ का बोध करा कर क्रमशः निर्विशेष रूप में बोध्य हो कर पुनः दूसरे विशिष्ट अर्थ का बोध कराती है। अभिनव ने विशिष्टों के क्रमिक संघर्ष से उभरने वाली निर्विशेषता की ओर एक भिन्न संदर्भ में इंगित किया है। प्रथम स्तर पर अनुकर्ता का वैशिष्ट्य लुप्त होता है तथा दूसरे स्तर पर उसमें आरोपित अनुकार्य का विम्व भी धूमिल पड़ जाता है। अतः दोनों विशिष्टताओं के लुप्त होने से साधारणीभूत संवित् उद्भूत होती है।[1]

भट्टनायक ने गुणालंकार परिग्रहात्मकता का संकेत देकर अभिधा में रूपकात्मकता अर्थात् बिशकलित वस्तुओं के एकत्व बोध (उपचार) की भी प्रकारान्तर से संभावना व्यक्त की है। अभिधा में लक्षणा भी निहित है; नागेश ने इसी उपचार व्यवस्था के कारण लक्षणा को सहृदय की वस्तु बताया है। भट्टनायक अभिधा और भावकत्व व्यापार के अन्तःसंबंध को भी परिभाषित करते हैं। अभिधा और भावकत्व के समीकरण से प्रतीकों के क्रमिक उद्घाटन की सम्भावना भी लक्षित होती है। रिचर्ड्स ने भाषा के इन दोनों स्तरों को टोन और ओवरटोन कहा है। इसमें एक स्तर पर

---

१. नाट्यशास्त्रम् (बड़ौदा, प्रथम भाग), पृ० २८५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

स्थूल से सूक्ष्मता की ओर अन्त:प्रयाण की व्यंजना है तो दूसरे स्तर पर मानसिक सामग्री का संश्लेषण भी ध्वनित है। वाक्यपदीय में वाह्य संरचना से आन्तरिक बौद्ध संरचना का जो संकेत दिया गया है, उसकी परिणति भी प्रकारान्तर से विशिष्ट के (सीतादि के) बौद्ध तत्त्व (कान्तात्व) के पर्यवसान में ही होती है। व्यक्ति प्रतीक क्रमशः नाम-रूपहीन भूमिका में पर्यवसित होते जाते हैं। मीमांसा में आकृति से जाति की ओर संक्रमण की जो प्रक्रिया दिखाई गई है, वह इस आन्तर प्रक्रिया को ही परिभाषित करती है। आकृतेः प्रथमज्ञानात् तस्या एवाभिधेयता।

अर्थ के विभिन्न स्तर प्राथमिक अभिधेयार्थ की सीमा का विस्तार करते हैं। स्रष्टा कवि के द्वारा पुनरनुसंधानित होकर सामान्य अर्थ विशिष्ट अर्थवत्ता की ओर उन्मुख होते हैं तथा असाधारण संदर्भ को सर्जनात्मक रूप में पुनः प्रस्तुत कर चेतना के बृहत्तर आयाम से संयुक्त कर देते हैं। आशय यह है कि कान्तात्व में व्यक्ति के असाधारण संदर्भ को किसी साधारण सर्वव्यापि प्रतिदर्श में सीमित कर देने का बोध निहित नहीं है। कवि का अनुभव अद्वितीय और विशिष्ट होता है। वह यथार्थ की विशिष्ट चेतना को ही रूपायित करता है और उस चेतना की अद्वितीयता को सम्प्रेषणीय बनाना उसके द्वारा भाषिक प्रतीकों का विशिष्ट संरचनात्मक धर्म है। शब्दार्थ के साधारण संकेतपरक अनुषंगों को कवि की यह विशिष्ट चेतनात्मक संरचना ही व्यापकतर संदर्भों की ओर उन्मुख करती हैं। अतः मुकुल भट्ट का यह कथन युक्तियुक्त ही है कि जाति से व्यक्ति का आक्षेप होता है। यह कथन साधारणीकरण के अन्तर्विरोध में नहीं पड़ता। अभिधेयार्थ विभावों के असाधारण विशिष्ट संदर्भों को उपस्थित करते हैं किन्तु अभिधा द्वारा गृहीत शब्द जातिपरक ही होते हैं। वे देशकाल का समग्रतर आयाम प्रस्तुत करते हैं, अतः काव्य में प्रयुक्त शब्द अभिधा व्यापार के स्तर पर नियंत्रित होने से पूर्व सामान्य चेतना के वाहक होते हैं और क्रमशः असाधारण अनुभव और परिदृश्य की ओर उन्मुख होते हैं। विभावों की असाधारणता देशकाल की विशिष्ट स्थितियों से नियंत्रित होती है, जिसे हम विभाव-अनुभाव और संचारी का संयोग कहते हैं अर्थात् काव्यानुभव जिन स्तरों पर अनुसंधानित होता हैं उनमें घटनात्मक सघनता और पात्र की मानसिक व्यवस्था का असाधारण बिम्ब ही निहित होता हैं जो क्रमशः प्रमाता की अवधारणा में प्रविष्ट होकर अपने मौलिक स्वरूप को अनावृत करता जाता है। विभावों की

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

असाधारणता अनुभाव योजना की अस्थिरता अथवा कष्ट कल्पना के कारण खण्डित भी हो सकती है। इस स्थिति में काव्यानुभव खण्डित प्रतिकृति सा प्रतीत होता है। 'परिहरति रतिं' इत्यादि में अनुभावों की कष्ट-कल्पना के कारण विभावों की विशिष्टता धूमिल पड़ गई है। कवि का अभिधा व्यापार जातिपरक प्रतीकों से आगे बढ़कर विशिष्ट प्रतीक को किसी एक बिन्दु पर समाहित नहीं करता। अतः असाधारण संयोजना के अभाव में साधारणीकरण की अनुवर्ती प्रक्रिया विफल हो गई है। आशय यह है कि काव्यात्मक अभिधा समयनिरूपित होकर भी काव्य की सर्जन-प्रक्रिया में विशिष्ट संदर्भों और परिदृश्यों से अन्वित होकर वैयक्तिक अस्तित्व ग्रहण कर लेती है। यह अस्तित्व बाह्य यथार्थ और कवि की अन्तःसंज्ञा में प्रतिवद्ध अवधारणाओं के द्वन्द्व की परिणति भी होता है जो प्रमाता की चेतना को एक आभ्यन्तर पुनरनुसंधान के लिए प्रेरित करता है। सीता में कान्तात्व के पुनरनुसंधान की भूमिका को हमने शब्द अर्थ की इसी द्वन्द्वात्मक समाहिति के वृहत्तर आयाम में विश्लेषित किया है। वस्तुतः काव्य का अभिधात्मक व्यापार स्रष्टा की अनुभूति की अन्तरंग सार्थकता के स्तर पर ही गतिशील होता है। विभावन व्यापार इस सार्थकता के संदर्भ को परिभाषित करता है।

आत्माभिव्यंजना कवि और प्रमाता दोनों के स्तर पर ही आत्मास्वाद की भूमिका है। 'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः' (दशरूपक ४/४३)। कवि की आत्माभिव्यंजना और प्रमाता के आत्मसाक्षात्कार के मध्य बिम्बों और प्रतीकों की पारदर्शी शृंखला आवश्यक है, जिसके आधार पक्ष में प्रमातृचेतना अपने नाना रूपों में विकसित होती हुई उन्मीलन और निमीलन में निमग्न रहती है। वस्तुतः कवि का आत्मतत्त्व परमतत्त्व का ही विश्वमय रूप है। प्रमाता का विमर्श पक्ष इससे पृथक् नहीं है। इसी के संदर्भ में कवि कवित्व की भूमिका पर अवस्थित माना जाता है। जिस प्रकार चित् शक्तिमय शिव ही आत्मा का वास्तविक रूप है, उसी प्रकार प्रमाता की विमर्श-चेतना कवि की आत्माभिव्यंजना को सार्थकता प्रदान करती है। कवि तथा सहृदय को आत्मोन्मुख बनाने में काव्य-व्यापार की सार्थकता है। यह व्यापार अभिधा के ही माध्यम से गतिशील होता है।

भावना एवं भावकत्व

साधारणीकरण तथा भावकत्व व्यापार के अन्तःसंबन्ध की स्पष्ट अभिज्ञता

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

के लिए 'भावकत्वव्यापारेण भाव्यमान:'[1] पद-बन्ध पर विचार करना भी आवश्यक है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि अभिनवभारती तथा काव्य प्रकाश में उपर्युक्त पदवन्ध अभिन्न रूप में प्रयुक्त है। भट्टनायक ने 'भावना-भाव्य एषोऽपि शृंगारादिगणो हि यत्'[2] कारिका में भावना व्यापार का भी उल्लेख किया है, अतः भावकत्व एवं भावना को पर्याय-रूप में ग्रहण कर उनके मौलिक अर्थ-संदर्भ पर विचार करना अपेक्षित है। इस संदर्भ में कतिपय टीकाकारों की व्याख्याएँ विवेच्य हैं।

'भावनाजन्यप्रतीतिविश्रान्तिविषयान्तरत्वमेव हि भावकत्वम् (विवरण)।[3] 'भावमानो भावितः साधारण्येनानुसंधीयमानः' (बालचित्तानुरंजनी)।[4] 'भाव्यमानो मुहुर्मुहुश्चिन्त्यमानः। तेन भावनोपतीनो रामादिरत्यादिः सामाजिकमनसि घ्राणोपनीतं सौरभ्यमिव चक्षुषि साक्षात्कारेण विषयीक्रियते। यथा कामिनो भावनानन्तरं तत्साक्षात्कारः। यथा वा निदिध्यासादिना आत्म-साक्षात्कारः (सारबोधिनी)[5]।

स्पष्टतः भट्टनायक काव्यसृष्टि तथा काव्यास्वाद के मूल में भाव प्रेरणा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। कवि के स्तर पर यह काव्यार्थ में अभिव्यक्त मौलिक अभिप्राय का अनुसंधान है तो प्रमाता के स्तर पर उस मौलिक भाव-सत्य का अनुचिंतनात्मक अन्तर्भावन है। आचार्यों ने इस अनुसंधान को 'आनन्दस्तदात्मिकायाः संविदः'[6] 'आनन्दात्मिका संवित् ज्ञानम्'[7] के रूप में दार्शनिक स्तर पर व्याख्यायित किया है।

भावना व्यापार के अन्तःसूत्र

पात्रों की वस्तुगत सम्बन्धपरकता प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा भ्रान्तिजन्य एवं लौकिक स्मृतिजन्य सुख-दुःख-हर्ष आदि से मुक्त होकर काव्यानुभूति में

१. नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) (बड़ौदा), पृ० २७७
२. - वही - पृ० २७७
३. काव्यप्रकाशः (गोकुलनाथोपाध्याय) (वाराणसी-१९६१) पृ० १२८
३. काव्यप्रकाशः (टीकात्रयसंवलितः) पृ० ६८
५. - वही - पृ० - वही -
६. काव्यदर्पण पृ० १४६
७. बालबोधिनी, पृ० ९०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अन्तर्भावित रोती है। काव्यार्थ की उपस्थिति मात्र से आराध्यत्व इत्यादि की आस्था का स्थगन नहीं होता, अपितु लौकिक अनुभूति के अलौकिकीकरण में ही काव्यास्वाद की निर्वैयक्तिक साधना उन्मीलित होती है। भट्टनायक का भावना-व्यापार कलात्मक अभिव्यंजना में रूपायित कवि के निजी विशिष्ट अनुभूति परिवेश का प्रमातृगत स्तर पर पुनःसंस्कार करता है।

भावना शब्द के मूल में भाव शब्द है, जिसमें स्वतः वासित या सम्प्रेषित होनें का भाव निहित है।[1] प्रतिमानाटक में भरत प्रतिमाओं को देखकर उनकी भावगति के अनुसंधान से एक विशेष भावोद्रेक की दशा में पहुँच जाते हैं।[2] यह प्रक़ारान्तर से अपनी आत्मा का ही प्रत्यभिज्ञान अथवा अनुसंधान है। भवभूति के उत्तररामचरित में चित्र-दर्शन सीता के मस्तिष्क पर जिस गहन प्रतिच्छाया को अंकित करता है, वह भी मूलत· भावना ही है। स्मृति ही नहीं, अपितु यह एक निरन्तर गतिशील संवेदनात्मक दशा है।[3] 'शाकुन्तलम्' में भी दुष्यन्त रमणीय दृश्यों के दर्शन से उद्बुद्ध अबोधपूर्व भावस्थिराणि की परिणति राग परिवाहिनी गीतात्मकता में करता है। यह अनुभूति भी स्मृतिरूपा न होकर साक्षात्कार-स्वभावा (भावरूपा) ही है।[4] अन्यत्र—

'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।'[5]
'भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव'[6]

---

१. भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्धम्। अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।
(नाट्यशास्त्रम्, भाग-१, पृ० ३४४-४५)

२. अहो क्रियामाधुर्यं पाषाणानाम्। अहो भावगतिराकृतीनाम्।
(भासनाटकचक्रम्, पृ० २७६)

३. अहो जानामि तस्मिन्नेव प्रदेशे तस्मिन्नेव काले वर्ते।
(उत्तररामचरितम्, पृ० १३)

४. अपितु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति।
(नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) पृ० २८०)

५. मेघदूत (उत्तरमेघ) २५, (कालिदासग्रन्थावली, पृ ४३६)

६. मालविकाग्निमित्रम् २/८, - वही - पृ० २७४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

स्पष्टतः यह भावानुप्रवेश की भूमिका है, जिसमें नर्तक जिस प्रकार नर्तितव्य विषय में एकाकार होता है, उसी प्रकार कवि अथवा प्रमाता भाव के साथ एकात्मकता अनुभव करता है। दूत वाक्यं में दुर्योधन 'भावोपपन्नता' का उल्लेख करता है तथा शाकुन्तलम् में विदूषक चित्ररेखा को 'भावमधुरा' कह कर **'मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः'** जैसे शब्दों का प्रयोग करता है।[1] इससे स्पष्टतः काव्यास्वाद के क्षण में दर्शक द्वारा भावदशा के अनुकरण का भाव द्योतित होता है।

काव्य-शास्त्र में अनुभावन, विभावन अथवा भावन की अवधारणाएँ विविध अनुभूतियों के संघात से विशेषीकृत पात्रों अथवा अनुभूतियों के सामान्यीकृत होने की संभावनाएँ व्यक्त करती हैं। भामह ने स्पष्टतः वक्रोक्ति के माध्यम से काव्यार्थ के विभावित होने का उल्लेख किया है। भाविक अलंकार की उद्भावना भी भावना-व्यापार के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं। भाविक काव्य के द्वारा उन्मीलित कवि के अभिप्राय को प्रमाताः के स्तर पर सम्प्रेषित करता है।

'भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद् भाविकं विदुः ॥'[2]

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र और उसकी परवर्ती काव्य-शास्त्रीय अवधारणाओं में भाव शब्द प्रेक्षक की अनुभूति तक सीमित नहीं है, सर्जन-प्रक्रिया की ओर भी इंगित करता है। सोमेश्वर ने मानसोल्लास में भावतत्त्वज्ञ शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। इस संदर्भ में भट्टतौत का विवेचन भी प्रासंगिक है। विषयानुभूति तथा रसानुभूति का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने कला द्वारा चित्रित भाव को वाह्यानुभूति से भिन्न निर्दिष्ट किया है।

'विषयाभावतो नात्र रागस्याभ्यासगाढता।
स्थायी चेद्विषयो नैवनास्वादस्य स गोचरः ॥'[3]

---

१. दूतवाक्यम् (भासनाटकचक्रम्), पृ० ४४६
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ० १०६
२. दण्डी : काव्यादर्श २/३६४, पृ० २१६-२० (चौखम्बा-१९५८)
३. काव्यप्रकाश (सं० एस० पी० भट्टाचार्य) पृ० ९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भावना का दार्शनिक आधार

काव्यगत भावना में रस ही साध्य अथवा जीवितभूत है।[1] विभावादि का साधारणीकरण इस जीवितभूत अथवा आत्मतत्त्व (रस) की उपलब्धि का साधन है - तथा गुणालंकार अथवा चतुर्विध अभिनय इसके माध्यम हैं। भट्नायक ने साधन, साध्य तथा इतिकर्तव्यता के त्रिक में भावना-व्यापार को मीमांसादर्शन की आधार भूमि पर व्याख्यायित किया है। अभिनव ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है **'इतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसानुभावयति।'**[2] यह आकस्मिक नहीं कि कुमारिल के तन्त्रवार्तिक की कारिका में व्यापारात्मिका भावना का स्वरूप अभिधा तथा भावना के अन्तःसम्बन्ध के स्तर पर ही प्रस्तुत हुआ है। निश्चय ही भट्नायक की परवर्ती अवधारणा शाब्दी तथा आर्थी-भावना के इस समीकरण से प्रेरित है। **'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।'** (तं० वा० २/१/१)[3] अभिधा शब्द से विधि शब्द का विधान होता है यह अभीप्सित संदर्भ के लिए उपयुक्त साधन जुटाती है तथा पुरुष को साधनता के प्रति प्रेरित करती है।[4] अर्थात् शाब्दी-भावना, व्यापार की मूल प्रेरणा है। आख्यात, क्रिया और लिंग दोनों के द्वारा भावना का स्वरूप निर्मित होता है। इसमें साधन, साध्य तथा इति-कर्तव्यताकांक्षा सम्मिलित हैं। उदाहरणार्थ **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** (तं० वा० २/१५) में तव्य प्रत्यय शाब्दी भावना की प्रतीति कराता है। यही प्रेरणा पुरुष प्रवृत्ति के रूप में रहने वाली आर्थी भावना के द्वारा साध्य है।[5] अतः तव्य प्रत्यय के अनन्तर प्रमाता अध्ययनजन्य अर्थाविवोध की ओर उन्मुख होता है। **'तस्मात्सामर्थ्यप्राप्तोऽववोधो भाव्यत्वेनावतिष्ठते।'**

---

१. अभिधा-भावना-रसचर्वणात्मकत्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूता। (ध्वन्यालोकलोचन १/१)

२. - वही - २/४ (लोचन)

३. मीमांसान्यायप्रकाश (निर्णयसागर-१९४५) पृ० ८०

४. अभिधीयते साऽभिधा समीहितसाधनता, सैव प्रवर्तनात्वेनाभिहिता पुरुष-प्रवृत्तिं भावयतीति भावना, तां लिङादय आहुः। (वही - पृ० ८१)

५. इति तव्यप्रत्ययः प्रेरणापरपर्यायां पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनाभाव्यामभिधा-भावनां प्रत्याययति। सा ह्यर्थभावना भाव्यमाकाङ्क्षति।
(सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ५२८)

६. - वही - पृ० ५३०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अभिनव के अनुसार भट्टनायक ने काव्यगत भावना के स्तर पर भावना-व्यापार को ही पुनरुज्जीवित किया है। **'काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः।।'**[1] अतः मीमांसा शैली के समानान्तर भट्टनायक के भावना व्यापार को प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं है। मीमांसा की शैली में भावना का अर्थ है गुणालंकार आदि भाषा के चारुत्व-सम्पादक (अभिव्यंजनात्मक) प्रयोगों के माध्यम से इति-कर्तव्यताकांक्षा कथं भावयेत्) रस (**साध्याकांक्षा किं भावयेत्**) को भावकत्व व्यापार के द्वारा निष्पन्न करना (साधनाकांक्षा केन भावयेत्)। स्पष्टतः काव्य भावक है, रस भाव्य हैं। वस्तुतः भावना-व्यापार शब्दों के विशिष्ट प्रयोग की प्रासंगिकता को रस-चर्वणा में निर्दिष्ट करता है।[2] अभिनव ने इस व्यापार को ध्वनन व्यापार के समानान्तर रखा है। **'तस्माद् व्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं रसान् भावयति इति त्र्यंशायां भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति।'**[3] वस्तुतः भावना-व्यापार की प्रासंगिकता सामष्टिक वोध के विशिष्ट स्तर को रूपायित करने में है। अभिनव ने मीमांसा शैली का आधार लेकर शब्दार्थ के विशिष्ट संदर्भों से उद्भूत होने वाली तथा वाक्य के अभिधेयार्थ को अतिशायित करके अनुभूति परिवेश को साधारणीकृत करने वाली प्रक्रिया का उल्लेख किया है। विधि वाक्य मूलतः विशेष व्यक्ति और विशेष काल के सूचक नहीं होते। अधिकारी के लिए लिङ् लकार के रूप में परिणत होकर वे विशिष्ट क्रिया-कारिता से मुक्त होकर देशकालातीत कर्तव्य की ओर इंगित करते हैं। **'आसे' 'प्रददानि' इत्यादिरूपा संक्रमणादिस्वभावा यथार्थदर्शनं प्रतिभाभावना-विधिनियोगदिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधि-कारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।'**[4] भावना व्यापार की मीमांसापरक व्याख्या साधारणीकरण के अन्तःव्यापार के सूत्र का संधान देती है। सामान्य शब्द व्यापार को अतिशायित संदर्भ में रूपायित करने में इस व्यापार की सार्थकता है। काव्य के विशिष्ट शब्द-प्रयोग की प्रासंगिकता यही है कि वह रूढ़

१. ध्वन्यालोक लोचन (चौखम्बा-१९९८ सं०) पृ० १८८-८९
२. - वही - पृ० १८८
३. - वही - पृ० १८९
४. नाट्यशास्त्र (भाग-१) अभिनवभारती, पृ० २७८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सुनिर्दिष्ट अर्थ-बिम्बों को स्व पर की चेतना से मुक्त कर साधारणीकृत करती है।

भावना-व्यापार अपूर्व अदृष्ट की उत्पत्ति से सम्भव होता है। रसानुभूति के मूल में एक विशिष्ट संस्कार सापेक्षता इसी अदृष्ट के समानान्तर काव्य-बोध की भूमिका निर्मित करती है। रसप्रदीपकार ने संभवतः इसी कारण भावना तथा संस्कार को पर्याय माना है।[1] इसका आशय यह है कि सामाजिक को काव्य-निबद्ध पात्रों के साथ अनुभूति संस्कार के आधार पर ही अभिन्नता अनुभूत होती है। भोज ने भी भावना की प्रतिष्ठा जिस अहकार (अभिमान) की आधारभूमि पर की है, वह भी मूलतः अदृष्ट जन्मानुवन्धि संस्कार ही है। "विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु।"[2]

बौद्ध-दर्शन में भावना का एक रूप है, जिसमें पात्रों के बुद्धि भेद से एक ही भगवान् बुद्ध चार प्रकार की अनुभूति का विषय वनते हैं।[3] स्पष्टतः यह एक स्तर पर प्रमातृगत अनुभूति की स्वीकृति है तो दूसरे स्तर पर विभावादि की साधारणीकृत भूमिका का भी संधान करती हैं। उक्त परिप्रेक्ष्य में यह तथ्य असंदिग्ध है कि मीमांसापरक भावना सूक्ष्म भावों के मिश्रण तथा शब्दार्थमयी अतिशायित सृष्टि की साधारणीकृत भूमिका निर्मित करती है। व्यक्ति-संबन्धों की मूर्त्तता क्रमशः भावरूपता में परिणत होती है। यह प्रकारान्तर से नाट्य-चरित्रों का भावनात्मक रूपान्तर ही है, जिसमें प्रमातृगत भावना द्वारा पात्र का देशकालातीत व्यक्ति-शून्य बोध अनुभूत होता है।

यह बोध कल्पना की क्रिया है। एक स्तर पर पात्र कवि की विशिष्ट भाव दृष्टि से प्रेरित निजी वैशिष्ट्य से अन्वित अपना मौलिक अस्तित्व रखते हैं तो दूसरे स्तर पर प्रमाता की भी निजी कल्पना और भाव-विग्रह का सूक्ष्म अस्तित्व होता है। इन दोनों विशिष्ट भाव-कल्पनाओं में निर्विशेष तत्त्व के उन्मीलन की व्याख्या भावना-व्यापार सम्पन्न करता है। भावना के द्वारा

---

१. भावना च विभावादि साधारणीकरणात्मा भावकत्वाख्यः कश्चन वासना-परनामा संस्कारः (रसप्रदीप, पृ० २६)

२. सरस्वतीकण्ठाभरण ५/२ (कलिकाता-१८९४ ई०) पृ० ५३८

३. यद्यपि भगवान्बुद्ध एक एव बोधयिता तथापि वोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्।...ते च बौद्धाश्चतुर्विधया भावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति (सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३५)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रमाता पूर्वानुभूत तथा प्रत्यक्षीकृत पदार्थों के अनुभूति संश्लेष से निर्मित अन्तश्चैतन्य में कवि की निजी विशिष्ट भाव-दृष्टि के योग से निर्मित तथा नवीन संयोजनाओं एवं रूपों में उद्भावित वस्तु-सत्य का अन्तःसाक्षात्कार करता है।

काव्यशास्त्रीय संदर्भ

भावना-व्यापार काव्य-सर्जन तथा उसकी आस्वाद-प्रक्रिया के दोनों ध्रुवों को संश्लिष्ट करता है। कवि तथा सहृदय दोनों के संस्कार सजातीय प्रवाह के रूप में इसमें वद्धमूल होते हैं[1] तथा पुनरनुसंधान के द्वारा ये संस्कार संबन्धित संवेदनाओं से अन्वित होकर घनीभूत एवं संश्लिष्ट होते हैं। यह प्रक्रिया चिन्तन, अनुचिन्तन एवं अनुसंधानपरक है। काव्य-प्रकाश के टीकाकारों ने भावना का विश्लेषण इसी अनुचिन्तनात्मक धरातल पर किया है। उपर्युक्त अभिमतों से यह तथ्य प्रमाणित होता है। कवि के स्तर पर यह अनुचिन्तन विशिष्ट अनुभूति-खण्ड का ऐसा घनीभूत क्षण है, जो बाह्याभिव्यक्ति के लिए पर्युत्सुक रहता है। यह पर्यत्सुकीभाव अनुभूति की अतिक्रान्त सघनता का स्वाभाविक परिणाम है। अभिनव ने चर्वणा के योग्य भावात्मक उच्चलनमूलक प्रकृति के कारण इसे काव्य की आत्मा अथवा सारभूत प्रभाव कहा है।[2] भट्टनायक के अनुसार जब तक हृदय घनीभूत संवेदना से पूर्ण नहीं होता वह अभिव्यक्त नहीं हो पाता। 'एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे यावत्पूर्णा न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।'[3] वस्तुतः सर्जन अथवा आस्वादन के भावपूर्ण क्षण में अर्थ (अनुभूति) शब्द (अभिव्यक्ति) स्वतः गौण हो जाते हैं। प्रमुखता उस विशिष्ट रूप की होती है, जो संवेगों के समीकरण का पर्याय होता है। अनुभूति (अर्थ) की निरावृत अविकल

---

१. संस्काररूपतया, धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव।··· संस्कारमपि स्वकं स्थायिसंस्कार एव प्रौढयन्ति।
(अभिनवभारती, दिल्ली विश्वविद्यालय पृ० ५५७)

२. एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्दवैलक्षण्यकारकः।
(-ध्वन्यालोकलोचन (तारावती) पृ० १५९)

३. - वही - पृ० १५९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अभिव्यक्ति काव्य नहीं है। शब्दार्थ को अतिक्रान्त करने वाली चेतना अथवा अनुभूतियों के अन्तर्विरोध में स्फुरित होने वाली लयान्विति ही काव्य है जो विलक्षण एवं विशिष्ट है। अतः भट्नायक का कथन है कि शब्द तथा अर्थ के गौण हो जाने पर व्यापार की प्रधानता में ही काव्यबुद्धि उन्मीलित होती है।

भावकत्व व्यापार भाषा के कलात्मक भावकोचित रागात्मक संदर्भों से अन्तश्चैतन्य को मूर्त करने में योग देता है। **'काव्ये दोषाभावगुणाङ्कारमयत्व-लक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण'**[1] के द्वारा भट्टनायक कवि-कल्पना की विविध रूपानुभूतियों के माध्यम से भावकत्व की प्रतिष्ठा करते हैं। आशय यह है कि एक विशिष्ट अर्थ-बोध में सीमित अनुभूति का विम्ब कवि-कल्पना के द्वारा विविध संयोजनाओं में रूपान्तरित होता हुआ जीवन के वृहत्तर संदर्भों को आत्मसात् कर व्यापक हो जाता है। सहृदय कवि-कल्पना की इस अनेक-आयामी विशिष्टता के साक्षात्कार से जीवन के वैविध्य की उपलब्धि करता है। कवि की कल्पना जीवन के निर्दिष्ट रूढ़ संदर्भों को खण्डित कर व्यापक एवं वैविध्यमय बनाती है। प्रमाता कवि-कल्पना में रूपायित विम्बों के समानान्तर पुनः पुनः अपने विशिष्ट भाव परिवेश में निहित आद्य विम्बों का अनुसंधान करता है। पात्र क्रमशः कृति की विशिष्ट संभावनाओं के आधार पर अपनी मुक्त प्रकृति को उन्मीलित करते हैं, जिससे उनका रूढ़ सुनिर्दिष्ट विम्ब खण्डित होता है तथा एक निर्विशेषत्व का उन्मीलन करता है। आशय यह है कि सर्वजनभोग्य शब्द-संकेतों में अनूदित होकर लोकजीवन के सामान्य संदर्भ क्रमशः निर्विशेषीकृत होने लगते हैं। भाषा के अतिशयित प्रयोग के कारण शब्द-बिम्ब इतिवृत्त के मूल में निहित भाव-सत्य का अनुसंधान करते हुए प्रमाता की चेतना के विविध स्तरों पर संक्रमित होते हैं तथा प्रमाता भी अपनी विशिष्ट व्यक्ति-चेतना से मुक्त होकर विशुद्ध भावोद्बोधन में समर्थ होता है। प्रमाता का व्यक्तित्व पुनः सर्जन में तन्मय होता है तथा अनुभूति का निरन्तर चर्वण करते हुए रस की भोग-भूमि पर पहुँच जाता है। अतः भट्टनायक के विषय में अभिनव का कथन है कि काव्य का रसों के प्रति जो भावकत्व व्यापार है वह विभावादि की साधारणता का सम्पादन ही है **"तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां**

१. नाट्यशास्त्र (भाग-१) पृ० २७७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

साधारणत्वापादनं नाम।"[1] इस संदर्भ में भावकत्व और साधारणीकरण के अन्तःसंबंध पर विचार करना भी प्रासंगिक होगा। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने साधारणीकरण संबंधी अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इन व्याख्याओं में भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि के साधारणीकरण के विविध अनुषंग परिभाषित हुए हैं।

भट्टनायक के संदर्भ में काव्य प्रकाश के टीकाकारों की साधारणीकरण सम्बन्धी अवधारणाएँ

भट्टनायक के 'साधारणीकरणात्मना' पद का आशय प्रायः टीकाकारों ने सीतादि की सामान्य कमिनीत्व के रूप में उपस्थिति, लिया है, तथापि कतिपय अन्य अवधारणाओं को भी इस पद की व्याख्या के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाता है। उनका प्रत्यवलोकन प्रस्तुत संदर्भ में भट्टनायक के दृष्टिकोण के स्पष्ट बोध के लिए आवश्यक है।

१. भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः (काव्यप्रदीपः)।[2]

२. अन्यसंबन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषांशपरिहारेणोपस्थापनं साधारणीकरणं (बालबोधिनी)।[3]

३. स्वस्य च नटस्य साधारणान् करोति (संकेतः)।[4]

४. नटं प्रेक्षकांश्च प्रति विभावादीनां साधारणकरणः साधारणीकृतः। (बालचित्तानुरञ्जनी)[5]

५. साधारणीकरणं नियतसंबन्धिगतत्वेनाप्रत्यायने सति प्रत्यायनम्। (सारबोधिनी)[6]

---

१. ध्वन्यालोकलोचन (चौखम्बा-१९९८ सं०) पृ० १८३
२. काव्यप्रदीप, पृ० ६६ (काव्यमाला-१९३३ ई०)
३. बालबोधिनी (वामनाचार्य झलकीकर, पूना-१९२१) पृ० ९१
४. माणिक्यचन्द्र-काव्यप्रकाश संकेत, पृ ७२
५. काव्यप्रकाशः टीकात्रयसंवलितः (प्रयाग-१९७६) पृ० ६८
६. सारबोधिनी (श्रीवत्सलांछन) पृ० ६८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

६. विभावादिभिः साधारणीकरणं च रसादिकवित्वभावुकानां भेदाभावेन प्रत्यायनम् (काव्यप्रकाशदर्पणः)।[१]

७. परित्यक्तविशेषतया साधारणीकृतः, विभावो रामादिः (विवरणम्)।[२]

८. येन विभावादीनि साधारणीक्रियन्ते (सम्प्रदायप्रकाशिनी)।[३]

९. तत्र भावकत्वं सीताप्रभृतिविभावादीनां यत्राप्यसंभवस्तत्रापि भवद्-भावनम् साधारण्यापादनार्थम् (विवेकः)।[४]

१०. विभावानुभावादीनामनुकार्यापेक्षया पूर्वमसाधारणानां सहृदयषु यत् साधारणीकरणम् तत्स्वभावेन भाव्यमानः साधारणीक्रियमाणः स्थायी (साहित्यचूडामणिः)।[५]

११. रामाद्यसाधारणानां विभावादीनां साधारण्येन प्रतीतिर्न स्यात्। तेन च व्यापारेण साधारणीक्रियमाणः...विभावानुभावादीनां रामाद्यपेक्षया पूर्वमसाधारणानां सहृदयेषु यत्साधारणीकरणं (काव्यदर्पणः)।[६]

इनके अतिरिक्त भी कतिपय आचार्यों ने भट्टनायक की अवधारणा को परिभाषित किया है। यथा—

१. सीतादीनां कान्तात्वादिरूपेणावस्थानम् (रसचन्द्रिका)।[७]

२. तेन च रामादिरत्यादिभिः सह सामाजिकरत्यादिनामभेदाध्यवसानम् (रसप्रदीपः)।[८]

३. व्यापारेण विभावादिसाधारण्यं प्रकुर्वताम्।
साधारणीकृतः स्थायिभावः सामाजिकात्मनि ।। (कर्णभूषणम्)[९]

---

१. विश्वनाथ कविराज, काव्यप्रकाशदर्पण पृ० ६८
२. काव्यप्रकाशविवरण (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) १९६१, पृ० १२८
३. श्री विद्याचक्रवर्ती (काव्यप्रकाश सं० रामचन्द्र द्विवेदी) १९६६, पृ० ६८
४. श्रीधर (काव्यप्रकाश सं० एस० पी० भट्टाचार्य-१०५९), पृ० ६८
५. श्रीभट्ट गोपाल (काव्यप्रकाश, अनन्तशयन-ग्रन्थावली-१९२६) पृ० १११
६. राजचूड़ामणि दीक्षित (काव्यदर्पण, श्रीरंगम्) पृ० १४६
७. विश्वेश्वर पाण्डेय (रसचन्द्रिका, चौखम्बा-१९२६) पृ० ४५
८. प्रभाकरभट्ट (इलाहाबाद-१९२५), पृ० २६
९. गंगानन्द कविराज (निर्णयसागर-१९२६), पृ० ५०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

४. निस्साधारणानामपि काव्ये नाट्ये चाभिधापर्यायेण साधारणीकरणात्मना भावनाव्यापारेण स्वसम्बन्धितया विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानाम् (रसार्णवसुधाकरः) ।[1]

इन टीकाकारों ने जैसा कि ऊपर कहा गया है कि विभावादि साधारणीकरण का प्रायः यह अर्थ लिया है कि राम-सीतादि पात्र भावकत्व व्यापार के द्वारा निर्विशेषीकृत अर्थात् परस्पर सम्बन्ध से मुक्त होकर प्रमाता की चेतना में अवतीर्ण होते हैं। विभावादि के रूप में प्रस्तुत लौकिक पात्र व्यक्ति-वैशिष्ट्य से मुक्त होकर चरित्र के भावतत्त्व (रामत्व और कान्तात्व) में परिणत हो जाते हैं। संकेतकार के अनुसार नट तथा प्रमाता दोनों वैशिष्ट्य से रहित होते हैं, जबकि विश्वनाथ के अनुसार रसादि, कवि तथा प्रमाता अभेद भाव से संयुक्त होते हैं। इसी प्रकार पूर्व असाधारण अनुकार्यगत भावों का सहृदयों के मन में साधारण रूप में अनुचिन्तन तथा स्व-संबन्धित विभावों का अनुचिन्तन के स्तर पर निर्विशेषीकृत होना साधारणीकरण की परिधि में आता है। अन्यत्र साधारणीकरण में विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी विशेष व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त होकर उपस्थित होते हैं तथा रति स्थायीभाव भी अलौकिक होकर लोक के किसी एक व्यक्ति से सम्बद्ध न रह कर व्यक्ति विशेष की वर्जना तथा स्वीकृति से मुक्त साधारणीकृत होते हैं।

प्रमाता के स्तर पर निर्विशेषीकृत भावों का राग-द्वेष से मुक्त होकर आस्वाद तथा विभावों के स्तर पर सम्बन्ध-वैशिष्ट्य से मुक्ति साधारणीकरण के ये दो ध्रुवान्त हैं। वस्तुतः भट्टनायक का दृष्टिकोण एकान्त वस्तुनिष्ठ अथवा विषयीनिष्ठ नहीं है। निर्विशेषीकरण की प्रक्रिया में प्रमाता के स्तर पर भाव-रूपता का अन्तर्भावन ही अपेक्षित नहीं है, उसका पुनरनुसंधान भी आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कवि की विशिष्ट रागात्मक संचेतना भाषा के कलात्मक, भावप्रवण उपकरणों से सम्पृक्त होकर अभिव्यंजना के स्तर पर अनूदित होते ही जीवन के व्यापक स्तरों से समीकृत हो जाती है। यह समीकरण कवि की तात्कालिक प्रक्रिया का निषेध करता है तथा प्रमाता के स्तर पर अनुभूति की एक आयामिता को विविध अनुभूतियों से संश्लिष्ट कर लोकोत्तर चेतना में पर्यवसित करता है। अभिव्यंजना के धरातल पर काव्यानुभव के रूपायित होते ही कवि की वैयक्तिकता पीछे

१. शिगभूपाल (रसार्णवसुधाकर-सागर-१९६९), पृ० १०३-१०४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

छूटने लगती है। वह स्वयं को समष्टि चेतना का अंगभूत सा अनुभव करता हुआ वस्तु या परिवेश के द्वन्द्व को विश्व-मानव के हृदय में घटित घटना का अविभाज्य अंग मानने लगता है। तात्कालिक प्रतिक्रिया जीवन के प्रति विराग, निर्वेद के संवेदनात्मक ज्ञान को भी उद्बुद्ध कर सकती है।

'काव्यरूप में परिणत होने के लिए उसका अन्तर्भावन अपेक्षित होता है। इस अन्तर्भावन या पुन:सृजन के क्षणों में वह अनुभूति एक विशिष्ट रूप-विन्यास में अन्तर्भुक्त होकर ही आकार ग्रहण करती है। उसका पूर्व स्वरूप मानसिक अन्तराल एवं कल्पनात्मक प्रतिक्रिया के कारण आवृत हो जाता है। इस काव्यानुभूति के दो स्तर होते हैं। प्रथम स्तर पर यह सार्वजनीन प्रतिक्रिया का संश्लिष्ट रूप होती है, जिसमें किसी भाव-सत्य या विचार सत्य की ही पुनरावृत्ति होती है दूसरे स्तर पर यह एक विशिष्ट कलात्मक सृष्टि होती है, जिसमें भाव-सत्य या वस्तुतत्त्व रूप विन्यास में ढल कर सजातीय संयोजनाओं की अपेक्षा एक अभूतपूर्व प्रतिक्रिया जगाता है।'[1] एक उदाहरण लीजिए—तार्किकता के अतिरेक से संत्रस्त मानव का हृदय अनेक बार अवसादग्रस्त एवं कुंठित सा अनुभव करता है। बौद्धिकता के नियन्त्रण से मुक्त होकर वह एक क्षण के लिए विशुद्ध हृदय की रागात्मक अन्तर्दशा का विनिर्मुक्त आस्वाद ग्रहण करना चाहता है, किन्तु नैतिक वर्जनाओं तथा तर्कपूर्ण निषेधों के कारण जब तक वह रस-ग्रहण के लिए तत्पर होता है, तब तक ऊहापोह में जीवन का रस सूख जाता है। कृती व्यक्तियों को वह तार्किक चिन्तन में अवरुद्ध हुए बिना जीवन का सौंदर्य रस पीते देखकर अपनी तत्त्वान्वेषिणी बुद्धि का अनेक बार तिरस्कार करता है। अनिवार्यत: यह अमिश्रित आनन्दमयी अनुभूति नहीं है, दिक् और काल की सीमित परिधि में आबद्ध यह अनुभूति प्रमाता के उपचेतन व्यक्तित्व को इतना आत्मसात् कर लेती है कि असंतोष के अतिरिक्त किसी प्रीतिकर अनुभव को दोहराने की मानसिक स्थिति में वह नहीं रहता, किन्तु वह तत्त्वान्वेषी प्रमाता भ्रमर को भयाक्रान्ता शकुन्तला के चंचल अपांगों का स्पर्श करते हुए तथा धृष्ट प्रेमी की भाँति उसकी व्याकुलता का रस लेते हुए देखता है तो राजा दुष्यन्त के तत्त्वान्वेषी तथा भ्रमर के कृती व्यक्तित्व में अपनी अनुभूति का ही पुनरनुसंधान करता है। अभिव्यंजना के स्तर पर उतरते ही यह सम्पूर्ण बिम्ब

१. काव्यानुभूति और काव्य सृजन (काव्य-शिल्प के आयाम), पृ० १५४-५५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

साधारणीकृत प्रतीक में रूपान्तरित होकर कवि की वैयक्तिक प्रतिक्रिया से उद्भूत होकर भी कवि तथा प्रमाता की अन्तश्चेतना में पुनर्भावित होकर समष्टि चेतना का अविभाज्य अंग बन जाता है।

'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।'[1]

समष्टि के मानस पर आरूढ़ होकर कवि जिस भाव-सत्य का साक्षात्कार करता है, वह है—'शुष्क तर्क-प्रधान चिन्तन को भी एक क्षण के लिए हृदय-रस से सिक्त करो, केवल तत्त्वान्वेषी न रहो कृती रस-भोक्ता भी बनो।' यह सत्य अनुसंधान नहीं समष्टि सत्य की पुनरावृत्ति है जो वैदिक ऋचाओं से लेकर अद्यावधि अभिव्यक्ति के द्वार खोजती रही है, फिर भी इस सत्य के प्रति कवि की रागात्मक संचेतना जिन अभिव्यंजनात्मक उपकरणों के माध्यम से मूर्त होती है, वह अनुभूत सत्य का पुनरनुसंधान है। अनुभूति का पुनः अनुसंधान या अन्तर्भावन कल्पना की क्रिया है जो एक ओर तो कवि की वासना या चित्तवृत्ति में संश्लिष्ट संस्कार-खण्डों एवं स्मृति-चित्रों का प्रत्याह्वान करके तात्कालिक प्रतिक्रिया को नवीन रूप प्रदान करती है, दूसरी ओर वैयक्तिकता का परिहार कर उसे समष्टि-चेतना के धरातल पर रूपायित भी करती है। कवि के स्तर पर यह विधायक कल्पना है तो प्रमाता के स्तर पर भावकत्व की विधायक कल्पना है जो अपने अन्तःकरण में निहित संवेदना के अनुरूप अनुभूति का पुनःअनुसंधान करती है। पंडितराज ने भावना का अर्थ '**पुनः पुनरनुसंधानात्मा**' किया है। आधुनिक शब्दावली में कहें तो प्रमाता अपने जीवन के संचित अनुभवों तथा अनादि वासना में बद्ध-मूल आद्य बिम्बों के समानान्तर कवि की विशिष्ट जीवनानुभूति का अभिव्यंजनात्मक प्रस्तुति के माध्यम से पुनरनुसंधान करता है। इस अनुसंधान को ही **भाव्यमानो मुहुर्मुहुश्चिन्त्यमानः** कहा है। भट्टनायक ने इस पुनरनुसंधान अथवा भाव्यमान (चर्व्यमाण) अनुभूति को तीन स्तरों पर व्याख्यायित किया है। संवेदन नामक व्यंग्य, पर-संवित्ति (ज्ञानभाव) की साक्षात्कारिता और आस्वादन रूप आत्मा का अनुभव।[2] पर-संवित्ति की गोचरता तथा आत्मानुभव संवेदन के

---

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १/२१ (काले, बम्बई-१९२०) पृ० २५

१. संवेदनाख्यया व्यंग्यः परसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥

(नाट्यशास्त्रम् (भाग,१) पृ० २७७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

धरातल पर समीकृत होते हैं। निश्चय ही कवि का आत्मानुभव तथा कवि की अनुभूति की साक्षात्कारिता दोनों ही विशिष्ट अनुभूतियाँ हैं, किन्तु संवेदनात्मक व्यंग्य में परिणत होकर वे निर्विशेषीकृत होती हैं।

रजस्तमोऽनुवेध तथा सत्त्वोद्रेक

भट्टनायक ने स्मृति आदि से विलक्षण जिस भोग व्यापार की संकल्पना व्यक्त की है, उसमें रजस् तथा तमोगुण का अनुवेध तो रहता है, किन्तु प्रधानता सत्त्वोद्रेक की होती है। इसकी प्रतीति द्रुति, विस्तार तथा विकासरूप में में होती है। वेद्यविषयान्तर की समाप्ति के अनन्तर आनन्द और प्रकाश स्वरूप यह भोग परब्रह्म के आस्वाद के सदृश भोजकत्व व्यापार के द्वारा अनुभव किया जाता है। स्पष्टतः रसास्वाद में चरम विश्रान्ति की यह संकल्पना 'रसो वै सः रसो ह्येवायं···' जैसी उक्तियों के समानान्तर विकसित हुई है, किन्तु परब्रह्म में जहाँ रजस् तमस् गुणों के एकान्त तिरोभाव के अनन्तर सत्त्वोद्रेक की संकल्पना व्यक्त हुई है वहाँ काव्यास्वाद में सत्त्वोद्रेक के साथ रजस् तमस् का वैचित्र्य भी आवश्यक है। काव्यास्वाद में सत्वोद्रेक की अवधारणा समाहित मन की अनुचिन्तनात्मक प्रवृत्ति की ओर इंगित करती है। साधारणीकरण की एक भूमि समाहित मन की भी है और यह सात्त्विक मनस्कता मूलतः सात्त्विक भावों के उद्रेक से ही सम्बद्ध है। भरत ने सात्त्विक भावों के उद्रेक तक ही सत्त्व की कल्पना को सीमित रखकर उसे रसांगता से अधिक महत्त्व नहीं दिया है। किन्तु भट्टनायक सात्त्विक भावों के उद्रेक से आगे बढ़कर सत्त्वोद्रेक की संकल्पना को प्रमाता की चित्तवृत्ति से सम्बद्ध करते हैं। साथ ही वे भरत की समाहितमनस्कता की अवधारणा को भी प्रकारान्तर से प्रमाता की मानसिकता की व्याख्या के लिए स्वीकार कर लेते है। रजस् तमस् से अनुविद्ध सत्त्वोद्रेक की, रसानुभूति की भूमिका के स्तर पर स्वीकृति आकस्मिक नहीं है। यह काव्यास्वाद के चरम बिन्दु पर रस को समग्रता एवं अर्थवत्ता प्रदान करती है।

योग, सांख्य, उपनिषद् और वेदान्त में त्रिगुणों की एक अत्यन्त व्यापक कल्पना मिलती है। श्रीमद्भगवद्गीता में जीव और परमात्मा के साधर्म्य के लिए गुणों के परिज्ञान को आवश्यक बताया गया है। ये सत्त्वादि गुण अविद्यात्मक होने के कारण क्षेत्रज्ञ को बाँधते अर्थात् उसी को आश्रय बनाकर अपना स्वरूप व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। इनमें रजोगुण

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रागात्मक है, अर्थात् पुरुष को विषय के साथ आसक्त करके तद्रूप करने वाला है और तमोगुण अन्तःकरण में मोह उत्पन्न करने वाला है। ये दोनों गुण सत्त्व गुण से उत्पन्न हुए ज्ञान को आवरण से आच्छादित करते हैं।[1] सत्त्वगुण प्रकाशशील तथा निरुपद्रव है[2] वह आत्मा को अनात्मस्वरूप सुख में नियुक्त कर देता है। स्पष्टतः रजस् तथा तमस् के अनुवेध से सत्त्वोद्रेक की विषयपरक प्रवृत्तियाँ मूलतः विषय-तादात्म्य की उन्हीं विभिन्न मानसिक कोटियों का पूर्वाभास देती हैं, जिन्हें भट्टनायक ने द्रुति-विस्तार-विकास के द्वारा अभिहित किया है। रजोगुण में सक्रियता तथा उपरंजकता स्पष्टतः प्रमाता की उस मानसिक कोटि का संकेत देती है, जिसमें काव्यार्थ के प्रति तृष्णापरक ग्रहणशीलता का भाव रहता है। तद्विपरीत तमोगुण में काव्यार्थ के प्रति मोहात्मक आवेश का तादात्म्यपरक भाव निहित है जिसमें प्रमाता की चेतना अप्रतिरुद्ध रहती है। सत्त्वस्थिति में अन्तःकरण की संज्ञानात्मक (प्रकाशपरक) प्रवृत्ति प्रखर होती है, जिसमें वह बाह्य यथार्थ पर अपनी आत्मा को आरोपित करता है। किन्तु वास्तविक आनन्दभूमि इन तीनों व्यापारों से भिन्न कोटि पर स्थित है, जिसमें विविध अन्तर्दशाओं के रूप में व्याप्त गुणों को प्रमाता साक्षी रूप में साक्षात्कार करता है। साक्षीरूपात्मा इन गुणों का अतिक्रमण करके ही विवेक ज्ञान से रसभाव को प्राप्त होता है।[3] क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तःस्वरूप को निरूपित करने वाली सत्त्व, रजस्, तमस् के गुणों की यह संकल्पना काव्यार्थ के द्वारा प्रेरित होने वाली प्रमाता की मानसिक अनुक्रिया के परवर्ती काव्य-चिन्तन में भी योग देती है। क्रमशः सौंदर्यबोध में जो निरपेक्ष, निःसंग या निर्वैयक्तिक अवधारणाओं का अन्तर्भाव हुआ, उसके

---

१. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १४/१५)

२. तत्र सत्त्वम् निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥ (वही)

३. नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ (वही)
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अंकुर क्षेत्रज्ञ की त्रिगुणातीत उदासीनकल्प अवधारणा में ही निहित हैं। निश्चय ही इस अवधारणा ने परवर्ती रस-शास्त्रीय चिन्तन को भी प्रभावित किया। निःसंगता की अवधारणा के उदय से सौंदर्यानुभव को विलक्षण कोटि के अनुभव के रूप में व्याख्यायित किया जाने लगा तथा कला मूल्यों की स्वायत्तता प्रतिष्ठित हुई।

गुणों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विवेचन सांख्य में है। इन गुणों के नामों में अर्थात् धूलि (रजस्), अन्धकार (तमस्), प्रकाश (सत्त्व) के प्रतीकों में क्रमशः सक्रियता, आवृति तथा ज्ञातता के सूक्ष्म अर्थों की अन्तर्ध्वनि है, तथापि सांख्य में इन तीनों गुणों को यथाक्रम प्रीत्यात्मक, अप्रीतिकर तथा विषादात्मक कहा गया है।[1] व्यास ने इन्हीं को सुख-दुःख-मोहात्मिका वृत्ति कहा है। सांख्यकारिका में इनका प्रयोजन प्रकाश, प्रवृत्ति तथा नियमन भी बताया गया है। तमं, सत्त्व तथा रज का नियमन करता है अर्थात् वह प्रकाश-शील बुद्धि की सक्रियता को नियंत्रित करता हैं।[2] इस प्रकार रजस्, सत्त्व तथा तमस् की अभिभूत कर विश्रान्ति प्रवृत्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार एक गुण दूसरे का अभिभावक आश्रय तथा जनक है। जैसे सत्त्व गुण रज के प्रवर्तन और नियमन का आश्रय बनकर क्रमशः रजस् और तमस् को अपने प्रकाश से उपकृत करता है। ये तीनों गुण एक दूसरे को उपमर्दित अवश्य करते हैं, किन्तु पुरुष के प्रयोजन के लिए ये प्रदीप के समान मिलकर कार्य करते हैं।[3]

काव्य-शास्त्रीय दृष्टि मे यदि विचार करें तो प्रकारान्तर से ये गुण प्रमाता की बिभिन्न मानसिक भूमियों की ओर इंगित करते हैं, जिन्हें सामान्यतः आदर्श प्रमाता की मानसिक तन्मयता की अपेक्षा आस्वाद की विभिन्न कीटियां कहा जा सकता है। भरत ने दर्शकों की इन विभिन्न कोटियों का उल्लेख किया है। तरुण काम तथा शूर वीरतापूर्ण कार्यों में

---

१. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥
(सांख्यकारिका, सं डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी-१९६९ पृ० ५९)

२. तमो नियामकमुक्तम् -तत्त्वकौमुदी -वही- १९६७ पृ० ६९

३. -वही- कारिका-१३, पृ० ६८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अनुरक्त होते हैं। इसका यह आशय नहीं कि प्रमाता की मनःस्थिति में विभिन्न अन्तदर्शाओं का योग नहीं होता, किन्तु प्रधानता किसी एक विशिष्ट मनःस्थिति की ही होती है। तरुण की कामवृत्ति के प्रेक्षण की स्पृहा में भी सक्रियता तथा उत्तेजना (रजोगुण) के साथ ऊर्ध्वमुखी औदात्य (सत्त्व) एवं नियमन (तमस्) का भाव भी निहित है। इसी को सांख्य में प्रदीप-वच्चार्थतो वृत्तिः[1] कहा है—**सत्त्वरजस्तमांसि मिथोविरुद्धान्यप्यनुवत्स्यन्ति च स्वकार्यं करिष्यन्ति च।**[2]

प्रधान एवं गौण भाव से परस्पर सहयोगी होकर ये गुण अनेकमुखी प्रति-क्रियाओं में योग देते हैं। जिस प्रकार रूप-यौवन से सम्पन्न एक ही स्त्री पति की प्रीतिकरी होकर भी सपत्नियों के लिए दुःखदा होती है,[3] उसी प्रकार गुणों की सापेक्ष स्थिति है। काव्यार्थ के विषय में भी यह कहना असंगत न होगा कि उसके अनुभावन में प्रमाता की निजी चित्तवृत्ति की सापेक्षता भी महत्त्व-पूर्ण होती है। एक स्तर पर काव्यार्थ की अपनी मौलिक प्रवृत्ति उन्मीलित होती है तथा दूसरे स्तर पर प्रमाता की निजी वर्जनाएँ सक्रियता तथा विवेक द्वन्द्वात्मक स्तर पर समाहित होते हैं। सांख्य की त्रिगुणात्मकता से प्रेरणा ग्रहण कर चित्तवृत्तियों की विभिन्न कोटियों की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है, उसके प्रेरक तत्त्वों के मूल में भी गुणों की संकल्पना है। गुण काव्यार्थ को चित्तवृत्ति के अनुकूल उद्दीप्त, आर्द्र तथा आवेशयुक्त बनाने में योग देते हैं इस प्रकार भट्टनायक ने प्रारम्भ में साधारणीकरण की भूमिका के रूप में गुणालंकार-संस्कृत अभिधा-व्यापार की जो संकल्पना व्यक्त की है, उसमें गुण शब्द का प्रयोग विशेष द्रष्टव्य है। काव्य-भाषा में गुणालंकार रागा-त्मकता में अनूदित होकर प्रमाता की चित्तवृत्ति की विभिन्न अन्तर्दशाओं का

---

१. -वही- पृ० -वही-

२. तत्त्वकौमुदी, पृ० ७०

३. अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःखमोहा-त्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति। तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावक-भावान्नानात्वम्। तद्यथा एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति···सैव स्त्री सपत्नीदुःखाकरोति।
(तत्त्वकौमुदीसहिता सांख्यकारिका, रामशंकर भट्टाचार्य-१९६७ पृ० ७१)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

संकेत देते हैं। यह भावना-व्यापार में निहित काव्यार्थ और प्रमाता की चित्तवृत्ति के भेदाभेद सम्बन्ध को स्पष्ट करने में सहायक है।

सांख्य में विकास तथा लय को त्रिगुणों की विषम तथा साम्यावस्था कहा गया है।[1] लय की चरम स्थिति तब प्राप्त होती है, जब रजस् और तमस् सत्त्व में विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार काव्य की लयात्मक विश्रान्ति के लिए मानस में सत्त्वोद्रेक की वह भूमिका आवश्यक है, जिसमें सत्त्व की अपेक्षित मात्रा के साथ रजस् और तमस् प्रमाता के मानस में विलीन हो जाते हैं। निश्चय ही यह विसंवादी अनुभूतियों की संवादी दिशा में समाहिति ही है, जिसे आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा में विरुद्धों का सामंजस्य कहा गया है। आधुनिक संदर्भ में गुणातीत स्थिति को क्रमशः बौद्धिक, भावात्मक तथा मूल प्रवृत्तियों की विरुद्धात्मक समाहिति कहा जा सकता है। अहम् तम से (मोह से) मुक्त होकर रागात्मकता तथा विवेक के नियंत्रण में जाता है। अर्थात् ऐन्द्रिय एवं भावात्मक अनुभूति का अतिक्रमण करने वाली प्रमाता की विवेक चेतना रस-बोध में सक्रिय रहती है। भट्टनायक ने द्रवीभाव, विस्तार तथा विकास के स्तर पर अनुभूतियों को समाहित करने वाली भावक की विविध मानसिक कोटियों का अभिज्ञान प्रस्तुत किया है। यह बात भिन्न है कि परवर्ती चिन्तकों ने इन तीनों प्रवृतियों का संबंध विभिन्न रसों से जोड़ कर **'हासः चेतोविकासः' 'जुगुप्सा चित्तविस्तारः'** जैसी प्रकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं।

इस संदर्भ में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि आलंकारिकों ने काव्यास्वाद की चरमावस्था की कल्पना मोक्ष की अवधारणा के रूप में की है। जीव में रजस् तथा तमस् भाव की निवृत्ति के अनन्तर क्लेश बीज के दग्ध होने से कैवल्य की प्राप्ति होती है। यह प्रकारान्तर से मिथ्यारूप से आरोपित भावना से मुक्ति है, जिससे मुक्त हो कर आत्मा साक्षी रूप में अवस्थित होता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने रसास्वाद का विवेचन ब्रह्मास्वाद की भूमिका पर किया है। प्रमाता अल्पज्ञता अथवा भेदभाव की समाप्ति के अनन्तर निज स्वरूपानन्द के साथ अनुभूयमान वासनारूप रति आदि का साक्षात्कार करता है। योगी की भूमिका के समकक्ष प्रमाता की चित्तवृत्ति भी अंशावरण

---

१. सांख्यकारिका, कारिका १२-१५,

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भंग के कारण अखण्डानन्द में परिणत हो जाती है। 'भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।' की तुलना में वे 'रत्याद्यवच्छिन्न-भग्नावरणा चिदेव रसः' की स्थापना प्रस्तुत करते हैं। आनन्द का आधार जड़ चित्तवृत्ति को मानना उन्हें स्वीकार्य नहीं है। रस-रूप आनन्द को आत्मा का वास्तविक स्वरूप मान कर वे चिदंश के अतिरिक्त किसी अन्य चित्तवृत्ति को रसानुभूति की ब्रह्मास्वादपरक भूमिका में स्वीकार नहीं करते। किन्तु अन्यत्र उनका कथन है कि काव्य और नाट्य में विभावादि का प्रकाश हो जाने पर सामाजिक अपनी सहृदयता से उल्लसित भावनाविशेष दोष की महिमा से स्वयं को अपने मनोमय दुष्यन्तत्व से आच्छादित कर लेता है। तथा स्वयं को दुष्यन्त समझने के कारण उसमें शकुन्तला विषयक साक्षिभास्य रति उत्पन्न हो जाती है। 'अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः।'[2] यद्यपि उनकी अवधारणा वेदान्तसम्मत अनिर्वचनीयतावाद के अनुरूप हैं तथापि इस स्तर पर रस को भ्रमात्मक ज्ञान मान कर व्यंजना-ग्रहीत रति से अभिन्न स्तर पर व्याख्यायित किया गया है। वस्तुतः अज्ञान-दोषजन्य रति से लोकोत्तर आह्लाद की पूर्ववर्ती संकल्पना के समानान्तर यह अवधारणा अन्तर्विरोध की सृष्टि करती है। यह विरोधाभास मूलतः चित्तवृत्ति की उस मानसिक भूमिका की स्वीकृति का परिणाम है जो रसास्वाद को अखण्ड आनन्दमयी चेतना मानती है। नव्यालोचन में प्रमाता की मानसिकता के अनेक आयामों को स्वीकृति मिली है और भट्टनायक की रजस्, तमस् से अनुविद्ध सत्त्वोद्रेक की अवधारणा विसंवादी अनुभूतियों के समन्वय से उद्भूत होने वाली संवादी अन्तश्चेतना की भूमिका निर्मित करती है।

प्रेक्षक में भोक्ता की अखण्ड रसानुभूति ही नहीं, एक सीमा तक स्रष्टा की सर्जन क्षमता भी होती है। भरत ने प्रेक्षक को सुमनस्प्रेक्षक कहा है, जिसमें स्पष्टतः प्रमाता की स्वतन्त्र मानसिकता की स्वीकृति है। प्रमाता की चिति का विस्फार भी 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' तथा 'आत्मेव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः' की भूमिका से भिन्न नहीं है। पंचरात्रागमों में ईश्वर को निस्त्रैगुण्य कहा गया है, किन्तु वह ज्ञान ऐश्वर्य, शक्ति आदि

---

१. रसगंगाधर, काव्यमाला-१९३०, पृ० २३
२. रस गंगाधर पृ० २५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गुणों से युक्त भी है। प्रेक्षक की स्थिति भी इसी के समकक्ष है। एक स्तर पर जहाँ वह वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता की स्थिति में काव्यार्थ का साक्षात्कार करता है, वहाँ अपनी भावना में निर्मित चेतना के आधार पर उसका प्रतिरोध भी करता है।[१] निश्चय ही यह प्रतिरोध प्रत्यभिज्ञान-मूलक होता है।

भोग-व्यापार

भावकत्व व्यापार की सीमा रस के भावित करने तक ही है। साधारणीकरण इसी भावकत्व का अभिन्न अंग है।[२] रस के भावित होने पर रस-भोग का कार्य भोग-व्यापार द्वारा निष्पन्न होता है।

यह भुक्ति अनुभव स्मृति आदि से विलक्षण अनुभूति है। रजस् एवं तमस् के मिश्रण के कारण यह द्रवीभाव विस्तार तथा विकास रूप चैतन्य की अभिव्यक्ति है। यह सत्त्वगुण के प्राधान्य से प्रकाश रूप में परिणत होने वाली आनन्दमयी संवित् से अभिन्न विश्रान्ति स्वरूप है तथा परब्रह्म के आस्वाद की समानधर्मा है। वस्तुतः रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध विगलित वेद्यान्तरूप आनन्द परब्रह्म के आस्वाद से अभिन्न नहीं है, उसीकी समान कोटि का है, क्यों कि सत्त्व के उद्रेक में रजस्-तमस् के मिश्रण से विसंवादी तत्त्वों का अध्याहार उसके स्वरूप को विशिष्ट बना देता है।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

रस भोग की भट्टनायक निरूपित अवधारणा को परवर्ती आचार्यों एवं टीकाकारों ने सांख्य एवं शैव दर्शन के आधार पर पृथक्-पृथक् विश्लेपित किया है। प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर, रस-चन्द्रिकाकार विश्वेश्वर पाण्डेय,

---

१. The spectator's willingness to indentify himself with characters on the stage, or to have feeling for conditions that are not his own temporarily to understand them, perhaps later to reject them is the dramatist's greatest asset, his means of reaching out to an audience to win it or repel it.

(J.L. Styan) The Dark Comedy (Cambridge-1968) P. 251

२. तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १८३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हिरयन्ना, पी० वी० काणे आदि प्राचीन अर्वाचीन समीक्षकों ने भट्टनायक को सांख्यवादी कहा है।[१] सांख्य के अनुसार पुरुष भोक्ता है। भोक्ता का अर्थ है, प्रकृति का निर्विकार द्रष्टा अर्थात् एक स्तर पर वह प्रख्या का द्रष्टा (ज्ञाता) है जो दूसरे स्तर पर प्रकृति का द्रष्टा, भोक्ता भी है। आशय यह है कि सांख्य में भोक्ता का स्वरूप मूलतः निरपेक्ष द्रष्टा का है, जिसमें बुद्धि आदि के व्यापारों के शान्त हो जाने पर उपद्रष्टा के रूप में भोक्ता का अस्तित्व उद्भासित होता है।[२]

सांख्य में भोग और अपवर्ग का संस्कार ही जीव के कर्मों को प्रेरित करता है, अपवर्ग प्राप्त हो जाने पर चित्त विकाररहित हो जाता है। भोग में आलोचन, संकल्प और अभिमान बुद्धि में उपसंक्रान्त होकर ऐन्द्रिय व्यापारों को अध्यवसित कर लेते हैं।[३] ज्ञातव्य तथ्य यह है कि भट्टनायक के भोग व्यापार में अपवर्ग की संकलपना भी निहित है। रसभोग-काल में प्रमाता की चेतना भावित रस का भोग ही नहीं करती, प्रकाशानन्दमय संवित् विश्रान्ति की भूमिका पर भी संक्रमित होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रजस्, तमस् और सत्त्व गुण की त्रिगुणात्मक परिकल्पना सांख्य की है, किन्तु भट्टनायक ने काव्यानुभूति के अनुकूल रजस्-तमस् के मिश्रण का संकेत देकर रसानुभूति में विशुद्ध ऐन्द्रिय ज्ञान से लेकर मानस-साक्षात्कारात्मक अनुभूतियों तक को समाहित किया है।

मौलिक उद्भावक किसी एक दर्शन से प्रतिबद्ध नहीं होता। विविध चिन्तन सम्प्रदायों के अन्तःसूत्रों को समाकलित कर अपने अनुभूति-परिवेश में उनकी पुनर्व्याख्या प्रस्तुत करता है। भट्टनायक ने भी सांख्य, अद्वैत एवं शैव दर्शन की विविध अवधारणाओं को आत्मसात् कर प्रमाता की द्वैताद्वैतपरक भूमिका प्रस्तुत की है। आत्मतत्त्व परमशिवरूप, विश्वात्मक एवं प्रकाश-

---

१. सत्त्वरजस्तमसां गुणानामुद्रेकेण क्रमात्सुखदुःखमोहाः प्रकाश्यन्ते। उद्रेकश्च स्वेतरावभिभूयावस्थानमिति सांख्यसिद्धान्तानुसारेण विवृणुते। (काव्यप्रदीप, पृ० ६६)

२. सांख्यतत्त्वकौमुदी ज्योतिष्मती, पृ० ३७१

३. संकल्पाभिमानाश्च, तत्तद्रूपपरिणामेन बुद्धावुपसंक्रान्ताः, तथेन्द्रियव्यापारा अपि बुद्धेरेव स्वव्यापारेणाध्यवसायेन सहैकव्यापारीभवन्ति। (वही) पृ० १२३-२४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विमर्शमय है,[१] उसके प्रकाश के आधार पक्ष में शक्ति नाना रूपों में उन्मीलित होती है। यह शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप है तथा शक्ति से संयुक्त होकर ही शिव, शिवरूप में अवतीर्ण होते हैं।[२] यह शक्ति मूलतः चित् शक्ति है, जो अनुत्तर विमर्श के धरातल पर विश्रान्ति में प्ररिणत होती है।[३] समग्र सृष्टि, चित्-शक्ति का उन्मेष ही है, अनुत्तर विमर्श के धरातल पर चित्त-शक्ति का अपने प्रकाश में उन्मिषित होना ही रसभोग की भूमिका है।

वस्तुतः भट्टनायक ने प्रमाता के व्यष्टिनिष्ठ आत्मास्वाद को समष्टि-मूलक चैतन्य की आस्वादमयी भूमिका के विवेचन के लिए **'निजचित्स्वभाव-निर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः'** को प्रकाशानन्दमय स्तर पर प्रस्तुत किया है। रसास्वाद में अन्य चित्तवृत्तियों के अनुवेध से उन्मिषित वैचित्र्य को भी उन्होंने स्वीकृति दी है। सांख्य के निरपेक्ष द्रष्टा को आत्मतत्त्व रूप परमशिव से संयुक्त कर प्रमातृगत रागात्मक तन्मयीभवन की प्रक्रिया में विवेक-चेतना की स्फूर्ति की अनिवार्यता को भी उन्होंने स्वीकार किया है। अद्वैत वेदान्त का प्रभाव भी इस द्वैताद्वैतमयी भूमिका को सघन करता है। प्रभाटीका के अनुसार सत्त्वोद्रेक का परिणाम आवरणभंग है **'तदन्तरञ्च भोजकव्यापारेण सत्त्वोद्रेकादावरणभङ्गे सति आनन्दात्मकचैतन्यविषयीकरणरूपा मुक्तिरिति'**[४] पंडितराज जगन्नाथ ने आवरणभंग को को रसास्वाद की भूमिका का आधार बनाया। आधुनिक दृष्टि से यह रस का वर्जनामुक्त आस्वाद है। आशय यह है कि प्रमाता की द्वैताद्वैतपरक रस-भोग की वह भूमिका जिसमें वर्जनामुक्त आत्म-चैतन्य के अनुसंधान के साथ काव्यवस्तु के वैशिष्ट्य के

---

१. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥
(शिवदृष्टिः प्र०आ० : २)

२. पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती···शिवभट्टारकाभिन्ना।
(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० २)
न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते।
शक्ति-शक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते॥ (शिवदृष्टि ३-२-३)

३. प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः···स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात्।
(तंत्रसार, पृ० ४६ से कश्मीर शैविज्म)

४. काव्यप्रदीप (प्रभा टीका), पृ० ६६।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रति उन्मुख प्रमाता की विवेक-चेतना का भी स्पर्श रहता है, भट्टनायक के अवधारणा केन्द्र में एकान्त बाह्य नहीं है। इस प्रकार भट्टनायक के साधारणीकरण में सहृदय-भोक्ता प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं सांख्य दर्शन के परम-शिव रूप आत्मतत्त्व तथा पुरुषतत्व की संधि चेतना का ही साक्ष्य देता है।

इस अवधारणा में काव्यवस्तु के प्रति प्रमाता की विवेकपरक चेतना तथा तन्मयीभवन के अनुषंग समाहित हैं। पुरुषबहुत्व (सांख्य) की अवधारणा से प्रमाता के व्यक्ति-वैचित्र्य तथा रुचिवैभिन्य को स्वीकृति मिली।[1] सांख्य में बुद्धि एवं विवेक की स्वीकृति है। इसके अतिरिक्त भोक्ता मात्र पुरुष ही है, प्रकृति केवल भोग के उपादान जुटाती है। यह भूमिका अनुकार्य अथवा नट में रसास्वाद के निषेध का आधार बनी। पुरुष में भोक्ता तथा निरपेक्ष द्रष्टा का द्वैत क्रमशः उपादान सामग्री (नट), पात्रों के अन्तःसम्बन्ध एवं अभिव्यंजना के वैशिष्ट्य को क्षीण कर प्रमाता की मानस भूमिका पर साधारणीकृत करता है। इस संदर्भ में भट्टनायक भोग को स्मृति अनुमान आदि से विलक्षण व्यापार निरूपित करते हैं। आशय यह है कि इस अनुभूति में परसंवित्तिगोचरता मूलतः आत्मानुसंधान से समीकृत है। भावकत्व के द्वारा जहाँ पात्रों से असाधारण अन्तःसंबंध के लोप तथा सामान्य धर्मों के आविर्भाव से उत्पन्न निर्विशेषीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होती है, वहाँ प्रमाता की वेद्यान्तर संदर्भों से मुक्त साधारणीकृत भूमिका रस भोग के सीमान्त पर ही प्रतिफलित होती है। दोनों व्यापार परस्पर संयुक्त होकर नाट्य वस्तु अथवा काव्यार्थ को प्रमाता की आत्मास्वादमयी चेतना में परिणत कर देते हैं।

आधुनिक दृष्टि से विचार करें तो भट्टनायक के सम्मुख अनुभूति के दो ध्रुवान्त थे। एक स्तर पर अति-प्राकृत, अति-मानवीय शक्तियों का उदात्त अलौकिक परिवेश था तो दूसरे स्तर पर जीवन के सामान्य लौकिक राग-द्वेष मूलक क्षुद्र अनुभव थे। प्रमाता की चेतना में प्रथम अपनी असाधारणता एवं अति-प्राकृत आतंक के कारण साधारणीकरण में बाधा डालता है तो दूसरी निजी जीवन की संकीर्णताओं तथा मानवसुलभ क्षुद्रताओं के कारण प्रमाता

---

१. पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव (सां० का० १८)
अयुगपत्प्रवृत्तेश्च इति। प्रवृत्तिः प्रयत्नलक्षणा यद्यप्यन्तःकरणवर्तिनी, तथापि पुरुषो उपचर्यते।
—सांख्यतत्त्वकौमुदी (सं० रामशंकर भट्टाचार्य) १९६७, पृ० ८७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की रागद्वेषमूलक स्वगत अनुभूतियों को प्रतिबिम्बित करता हुआ सा स्मृति चित्रों के रूप में पुनरुद्भावित होता है। भट्टनायक अनुभूति के इन दोनों सीमान्तों को निषेधमूलक प्रतीतियों में रूपान्तरित कर साधारणीकरण की ओर उन्मुख होते हैं। क्रमशः आद्य प्ररूपों में निहित आतंक, विस्मय एवं औदात्य के तरलायित तथा मानव की लघुता में निहित आन्तरिक गरिमा के उद्भासित हो जाने से इतिवृत्त के स्थूल आवरण में निहित भाव-सत्य मुक्त होकर मानव-चैतन्य की प्रतिष्ठा करता है। साधारणीकरण इन दोनों भूमिकाओं का आत्मसात् करता है। क्षुद्र मानव की जिजीविषा तथा देवत्व का रहस्यमय आलोकवलय दोनों ही प्रमाता के मनोजगत् में अन्तः प्रतिबिम्बित होकर सामरस्य में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार भट्टनायक की साधारणीकरण की अवधारणा में भावक का अन्तरंग प्रवेश रसानुभूति को अधिक व्यापक आयाम देता है। सहृदय के आन्तरिक सामर्थ्य की स्वीकृति तथा वस्तु एवं प्रमाता के अन्तःसम्बन्ध की द्वन्द्वात्मक स्वीकृति भट्टनायक की साधारणीकरणविषयक अवधारणा को जीवन-यथार्थ की विश्लेषण परिधि से बाहर नहीं रहने देती। कलानुभूतिजन्य तन्मयता तथा ईश्वरानुभूतिजन्य वेद्यान्तर-शून्य चित्तवृत्तिकी एकाग्रता के साथ निरपेक्ष द्रष्टा की विवेक चेतना का समीकरण प्रस्तुत कर वे अपनी अवधारणा को आधुनिक नाट्य एवं काव्य परिवेश की व्याख्या के लिए उपयुक्त सिद्ध करते हैं।

भट्टनायक के भोग व्यापार की अवधारणा को अभिनव ने इस आधार पर अप्रामाणिक ठहराया है कि अनुमान स्मृति अभिव्यक्ति तथा प्रतीति से व्यतिरिक्त भोग विशिष्ट व्यापार नहीं हो सकता।[1] सत्त्वादि गुणों के अंगांगी संबंध के कारण अनन्त वैचित्र्य की कल्पना करनी पड़ेगी।[2] वस्तुतः भट्टनायक की अवधारणा में अनुभूतियों के वैचित्र्य की कल्पना नहीं, अपितु अनुभूतियों के संघात से उद्भूत विवेक तथा रागात्मक चेतना के समीकरण की स्वीकृति है। प्रत्यक्ष, अनुमान अनुभूति को एक आयामी बनाते हैं, जबकि प्रमाता की भावना में अन्तर्भावित होकर संवादी एवं विसंवादी संवेदन

---

१. प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः।

—नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) पृ० २७७

२. सत्त्वादिगुणानां चाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति कर्तृत्वे, नेयत्ता।
-वही- पृ० -वही-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

स्पर्धामूलक समन्वय में परिणत होते हैं। इस प्रकार कवि के समानान्तर प्रमाता भी काव्यगत विशिष्ट अनुभूति को अखण्ड काव्यास्वाद में परिणत करने से पूर्ण संवेदनों के अनेक स्तरों पर ग्रहण करता है। अतः भोगीकरण को पिशाचीकरण कह कर उसके वैशिष्ट्य को स्वीकार न करना हृदय-संवाद के मौलिक आयाम का निषेध करना है। अभिनय स्वयं चर्वणा, आस्वादन आदि प्रतीतियों की प्रासंगिकता स्वीकार करते हैं।[1] स्पष्टतः आन्तरिक समानता होने पर भी भोग व्यापार चर्वणा की निष्क्रिय आत्मास्वादमूलक भूमिका से भिन्न अनादि वासना पर आधृत सौंदर्यबोध को परिभाषित करता है, जिसमें मानव की आन्तरिक सक्रियता की स्पष्ट स्वीकृति है।

शब्द एवं अर्थ की निरावृत अविकल अभिव्यक्ति काव्य नहीं है। कलागत सत्य के रूप में उसकी अवतारणा ही उसे प्रमाता के स्तर पर संवेद्य बनाती है। अतः अभिनव का यह कथन कि अभिधा से भिन्न व्यञ्जनात्मक ध्वनन व्यापार ही काव्यार्थ में उपयोगी है तथा भोगीकरण मूलतः रस का ध्वनन व्यापार है[2], अंशतः ही सत्य है। ध्वन्यर्थ समग्र काव्य प्रसंग के सारभूत प्रभाव की बौद्धिक प्रतीति कराता है। संवेदनात्मक परितुष्टि के अभाव में व्यंजना का प्रभाव क्षीण हो जाता है। विदग्ध उक्तियों तथा चमत्कारपूर्ण काव्यांशों में व्यंजना व्यापार अधिक सक्रिय होता है, किन्तु विविध भंगिमाओं और अर्थच्छाओं को प्रमाता की चेतना के विविध स्तरों पर संक्रमित करने में भावना ही समर्थ है। अभिनव ने जिस अबोधपूर्वा स्मृति को काव्यानुभूति के आस्वाद का आधार बनाया है, उसके वातायन भावना व्यापार में ही खुलते हैं, एक क्षीण अनुभूति प्रत्यभिज्ञान के स्तर पर संख्यातीत पूर्वानुभूत जीवन सत्यों को रागात्मकता में पर्यवसित कर उनके साथ मानव की आभ्यन्तर अस्मिता का जीवन्त संदर्भ जोड़ती है।

---

१. किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु। तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्। (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १८७)

२. -वही- पृ० १८९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

निष्कर्षत विभावादि साधारणीकरणात्मा भावकत्व व्यापार एकान्त रूढ़ अथवा गतिहीन अवधारणा नहीं हैं। यद्यपि इस अवधारणा का उपयोग पूर्व-निर्धारित स्थिर अथवा आदर्शीकृत चरित्रों की निर्विशेषीकृत अनुभूति के लिए किया गया है, किन्तु गतिशील चरित्रों के प्रति प्रमातृगत अनुक्रिया के विवेचन में भी इसकी सहायता अनिवार्य रूप से ली जा सकती है। यहाँ विभावादि के साधारणीकरण का आशय कृति की सर्जनात्मक संभावनाओं के अनुरूप चरित्र की उस गतिशील प्रकृति के उन्मीलन से है, जिसमें पात्र अपनी विशिष्ट संभावनाओं के अनुरूप क्रमशः अपनी प्रकृति को अर्जित एवं आचरण को परिभाषित करता है।

'विभावादिसाधारणीकरणात्मना'—सीता की कान्तात्व में परिणति

भट्टनायक ने 'विभावादि साधारणीकरणात्मना' का आशय स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु परवर्ती आचार्यों एवं टीकाकारों के अनुसार इसका अर्थ यह भी है कि काव्यगत विभाव आदि असाधारणता अथवा वैशिष्ट्य से मुक्त हो कर अपनी साधारणता को उन्मीलित करते हुए निर्विशेषीकृत होते हैं। इस निर्विशेषीकरण की प्रक्रिया में सीतादि पात्र जहाँ नियत संबंधों से मुक्त होते हैं, वहाँ दूसरे स्तर पर कामिनीत्व मात्र में उनका पर्यवसान हो जाता है। इस दृष्टि से कतिपय व्याख्याएँ उल्लेखनीय हैं—

१. साधारणीकरणं नियतसंबंधिगतत्वेनाप्रत्यायने सति प्रत्यायनम् परिहृतसीतात्वादिविशेषैः (सारबोधिनी)

२. साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादि सामान्यनोपस्थितिः (काव्यप्रदीप)

३. अन्यसंन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषांश-परिहारेणोपस्थापनं साधारणीकरणम्। (बालबोधिनी)

---

१. काव्यप्रकाशः टीकात्रयसंवलितः (केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्, प्रयागः) १९७६ ई०, पृ० ६८, ७५

२. काव्यप्रदीप, पृ ६६

३. काव्यप्रकाश, वामनाचार्य (झलकीकर) पूना-१९२१, पृ० ९१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विभावादिरूपसीतादयो रामसंवन्धिनी रतिश्च सीतात्वरामत्व-संबन्धांशमपहाय सामान्यतः कामिनीत्वरतित्वादिनैवोपस्थाप्यते । (बालबोधिनी)

इसी प्रकार लोचन के तद्विभावादीनां साधारणत्वपादनं की व्याख्या बालप्रियाकार ने सामान्येनोस्थापककत्वं रूप में की है ।[1] यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि रस की स्वगतप्रतीतिमूलक निष्पत्ति के संदर्भ में भट्टनायक इस संभावना का निषेध कर चुके हैं कि सीतादि को सामाजिक का प्रत्यक्ष विभाव स्वीकार कर लिया जाए । इस अस्वीकृति के दो कारण हैं 'सीतादेरविभावत्वात्' 'स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्' । प्रथम, ऐतिहासिक सीता की अविद्यमानता के कारण प्रमाता का मंचस्थ नटी को विभाव बनाना कठिन है । द्वितीय, नटी मे प्रक्षिप्त प्रेयसी को भी वह आलम्बन नहीं बना सकता, क्योंकि रसवोध के क्षण में प्रेयसी की संवेदनात्मक स्मृति का होना आवश्यक नहीं है । इस निषेध का एक तीसरा कोण है, जो जगज्जननी सीता को रति का आलम्बन वनाने की नैतिक वर्जना से सम्बद्ध है । इस संदर्भ में भट्टनायक इस समाधान की संभावना को भी अस्वीकार करते हैं कि सीता में निहित सामान्य कामिनीत्व या कान्तात्व सामाजिक की रति को उद्बुद्ध कर सकता है। **न च कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतु विभावतायां प्रयोजकम्** ।[2]

अव यह प्रश्न स्वाभाविक है कि प्रतीतिवाद में सीता में निहित कान्तात्व-साधारण सामाजिकगत रति के विकास में प्रयोजक क्यों नहीं है ? एवं भावना व्यापार के अन्तर्गत सीतादि का कान्तादि में पर्यवसान का सैद्धान्तिक आधार क्या है ? वस्तुतः प्रतीतिवाद के अन्तर्गत सीता की विशुद्ध कामिनी रूप में उपस्थिति एकान्त स्वरूपगत है, प्रभावगत नहीं है । अतः यदि वह सामाजिक की प्रेयसी के साधारण धर्मों से अन्वित हो कर उपस्थित भी होती है तो सामाजिक उसे अकुंठित वर्जनामुक्त भाव से ग्रहण नहीं कर पाता ।

---

१. ध्वन्यालोकलोचन (बालप्रिया, चौखम्वा सं० १९९७), पृ० १८३

२. ध्वन्यालोकलोचन (बालप्रिया), पृ १८१

३. प्रयोजकमिति । तथा च सीतायाः मानुषीत्वेन सीतादौ सहृदयानां कान्तात्वसंवेदनं भवतीति भावः । बालप्रिया, पृ० १८१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अंशतः आराध्यत्व एवं अगम्यात्व[1] की पाप-भीति उसके रत्यास्वाद को अनाविल नहीं रहने देती; और यदि सीता कान्ता मात्र की सामान्य भूमि पर अवतीर्ण हो कर कान्तोचित धर्मों को उन्मीलित भी करती है तो वहाँ द्रष्टा की भूमिका पर ही सामाजिक उसका साक्षात्कार करेगा, भोक्ता की भूमिका पर नहीं। तद्विपरीत कान्तात्व भाव्यमान हो कर स्वरूपमात्र में स्थित न रह कर वर्णन के सारभूत प्रभाव में व्याप्त हो जाता है। इस स्थिति में सीता स्थूल नामरूपात्मक देशकाल से नियंत्रित वैशिष्ट्य से मुक्त हो कर उस भाव सत्य को उन्मीलित करती है, जो मानव मात्र की प्रेयसी के आदर्श गुणों का प्रतीकीकृत समवाय है। आदर्श शब्द से यहाँ आशय किसी शाश्वत अथवा आध्यात्मिक मूल्य से नहीं है, एक विशिष्ट परिस्थिति को मनुष्य निरन्तर अपनी अन्तःक्रिया से परिशोधित एवं परिभाषित करता है, जिस की अशरीरी उपस्थिति उसके व्यक्तित्व का विकास एवं संस्कार करती है। स्थिति एवं व्यक्तित्व की अन्तःक्रियाओं की चरम अपेक्षाएँ ही वे आदर्श मूल्य हैं, जो किसी पात्र में सम्मूर्तित हो कर प्रमाता को आत्मानुसंधान के लिए प्रेरित करते हैं। यह तथ्य रामवल्लभा सीता के व्यक्तित्व के कुछ चित्रों से अधिक स्पष्ट हो सकेगा। सीता के दिव्य अमानुषी व्यक्तित्व का क्रम विकास इस प्रकार है—

नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरा न च पन्नगी।
तुल्या सीमन्तिनी तस्या मानुषी तु कुतो भवेत्॥[2]

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥[3]

किन्तु दिव्यत्व के स्वीकृत मूल्य के आधार पर प्रमाता सीता के चरित्र का जब अनुसंधान करता है तो उसे कहीं वह हाव-भाव, लीला विलास,

---

१. देवतास्वमात्रादेर्नायिकात्वेन वर्णनस्थले देवतादावाराध्यत्वज्ञानेन प्रतिबन्धात्तत्र काम्यत्वरूपकान्तात्वसंवेदनं भवतीत्यर्थः।
(वही - पृ १८१)

२. वा० रा० अरण्यकाण्ड ३१/३० पृ० ५६२

३. मानस, बालकाण्ड श्लोक ५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विच्छति के ललित वलय से घिरी रतिमुग्धा प्रणयिनी[1] कहीं मार्ग के श्रम से परिश्रान्त सुकुमार, अभिजात रमणी[2] कहीं चारित्र्य की शुद्धता पर शंका व्यक्त किए जाने से आहत प्रपीडिता अबला और फिर उस लांछिता की रोष और घृणा उडेलती व्यंग्यमयी वाणी[3] और इन सब के बीच निराशा से उदासीन अपकार के कारण क्रुद्ध दीर्घकालीन वियोग के अनन्तर आकस्मिक मिलन से विस्मित, सौजन्य से प्रसन्न प्रेमी की करुण दशा के साक्षात्कार से वेदना-विह्वल[4] चिरन्तन नारी के रूप में दिखाई पड़ती है। सीता के व्यक्तित्व में निहित आत्माभिमान, स्वतन्त्र चिन्तन, सात्त्विक आक्रोश अथवा उसकी विडम्बनापूर्ण नियति के विविध कोणों को एक क्षण के लिए विस्मृत कर यदि उसके विशुद्ध प्रणयिनी अथवा कामिनी रूप पर ही विचार करें, तो भी उसमें व्यापक वैभिन्न्य से युक्त बहुआयामी धरातल दृष्टिगोचर होता है। तुलसी में उसका कामिनीरूप एकान्त मर्यादित है। भवभूति में उसका कान्तात्व अनिर्वचनीय तरल गीतिमय[5] स्तर पर है, जिसमें परस्पर संसक्त

---

१. पृथुलजघनभारं मन्दमान्दोलयन्ती।
मृदुचलदलकाग्रा प्रस्फुरत्कर्णपूरा॥
प्रकटितभुजमूला दर्शितस्तन्यलीला।
प्रमदयति पतिं द्राग्जानकी व्याजनिद्रा॥
(हनुमन्नाटकम् २/१७, चौखम्बा-१९६७ पृ० ३८)

२. हनुमन्नाटकम् ३/१२, पृ० ५०

३. वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥
रघुवंशमहाकाव्यम् ४/६१ पृ० १८५ (कालिदास-ग्रन्थावली)

४. तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशा-
द्वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन्क्षण इव।
(उत्तररामचरितम् ३/१४ पृ० ६०)

५. किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्॥
किमपि अनिर्वाच्यं यथा तथा (घनश्याम संजीवनी) पृ० १७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कपोल और दृढ़ आलिंगन की ऐन्द्रिय भूमि में आत्मिक संसक्ति धूमिल नहीं पड़ती। कालिदास में यह प्रणयतृषा ऐन्द्रिय ज्वार के रूप में व्यक्त हुई है, जहाँ स्तनों पर नखक्षतों में दोष-दर्शन का भी अवकाश नहीं है।[1] वाल्मीकि में यह दाम्पत्य प्रेम के उत्सव का प्रतीक है[2] तो हनुमन्नाटक में उसका प्रणयिनीत्व उत्तान शृंगार का रंगस्थल ही है।[3]

देवतादि का साधारणीकरण

जो कुछ मानसिक प्रतिबन्धों के कारण काव्यास्वाद की भूमि में अभोग्य अथवा अनुभव के क्षेत्र से वहिष्कृत है, उसे भोग्य तथा अनुभूति का विषय बनाना साधारणीकरण की प्रमुख भूमिका है। प्रमाता अपने अन्तःक्षेत्र में दो प्रकार के अनुभव-खण्डों से साक्षात्कार करता है। कुछ अनुभव-खण्ड उसके चतुर्दिक् के वातावरण से एकान्त असम्पृक्त नहीं होते, किन्तु सम्भाव्यता के स्तर पर वे जिन असाधारण आदर्श विम्बों की सृष्टि करते हैं, उनके माध्यम से प्रमाता शेष मानव सृष्टि के साथ सहज ही अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर अनुभूत क्षण का पुनः साक्षात्कार करता है। इन विम्बों में विसंवादी प्रभाव को तीव्र करता हुआ युग का आहत अभिमान, क्रूरता का दम्भ, असफल प्रणय पीड़ा के दंश मिले रह सकते हैं।[4] किन्तु यह सब कुछ प्रमाता का अनुभूत सत्य होता है, अपने व्यक्ति की संकुचित सीमा से मुक्त हो कर वह उनका निर्व्याज, निर्हेतुक भोग करता है। इस स्तर पर काव्यार्थ

---

१. प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्।
रघुवंश १२/१२२, पृ० १५२ (कालिदास-ग्रन्थावली)

२. ततः श्रान्ताहमुत्संगमासीनस्य तवाविशम्।
परिश्रमाच्च सुप्ता हे राघवांकेऽस्म्यहं चिरम्।
पर्यायेण प्रसुप्तश्च ममांके भरताग्रजः॥
(वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकाण्ड ३८/१९-२१, पृ० ६६४, गोरखपुर)

३. गाढं गाढं कमलमुकुलं पुण्डरीकाक्षवक्षः
पीठं काठिन्यमपि कुचयोर्जानकी मामकीर्णा॥ हनु० २/११

४. The whips and scorns of time, the oppressors wrong, the proud man's contumny. The pangs of despised love.
Hamlet Act, III scene 1

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

और उसकी मानसिक भूमि में मानसिक अन्तराल अत्यन्त संतुलित रहता है[1], न इतना क्षीण कि वह अनुभूति स्वगत प्रतीति में परिणत हो जाए, न इतना स्थूल कि काव्यार्थ एकान्त, तटस्थ परगत प्रतीति सा प्रतीत होने लगे। आशय यह है कि राम, सीता आदि के दिव्य गरिमामण्डित व्यक्तित्व के आयाम भी उसके अनुभूत सत्य के कोणों की ही एक स्तर पर पुनरुद्‌भावना करते हैं। उत्तररामचरितम् में राम का अलौकिक दाम्पत्य प्रेम तथा विरह वेदना का उत्कट ज्वार इसी परिधि में आते हैं। सुख दुःख में एक रूप सभी अवस्थाओं में अपरिवर्तित हृदय की विश्रान्तिमूलक प्रणय एक कालातीत अनुभूति है[2] जो प्रमाता की अन्तःपरिधि में घिर कर भी सम्भाव्य भूमि पर आदर्श एवं काम्य बनी रहती है। यह लौकिक प्रणय की ही नहीं शाश्वत रसानुभूति की मधुमती भूमिका है, जिसमें प्रमाता प्रमेय की अद्वैत चेतना, आत्म-विश्रान्ति देशकालातीत अनुभूति के अपरिवर्त्यमान अनुषंग जुड़े रहते हैं। प्रमाता एक स्तर पर यदि प्रणय की इस चरम-आदर्श अनुभूति का पुनः साक्षात्कार करता है, तो दूसरे स्तर पर वह अनुभव की लौकिक परिधि में इन दिव्य पात्रों का मनोवांछित सरल रूप भी देखता है, जो सुख, दुःख, हर्ष एवं पीड़ा की ऋजु तरल अनुभूतियों के धरातल पर उसका चिर अनुभूत जीवन्त सत्य है। सीता मानवी है, सहज प्राकृत मानवी, जो रथारोहण के

---

१. It is Distance which on one side prevents the emptying of Art of its concreteness and the development of the typical into abstractness; which, on the other, suppresses the directly personal element of its individualism; thus reducing the antitheses to the peaceful interplay of these two factors. It is just this interplay which constitutes the 'Antinomy of Distance.'

(Edward Bullough) A Modern Book of Esthetics.
p. 410-411

२. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

(उत्तररामचरितम् १/३९, पृ० २५)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

समय सहज भाव से कह सकती है 'स्फुरति मे गर्भभारः। शनैर्गच्छाव:'[१]. अनुभूति का ऐसा निर्व्याज प्रकाशन घनश्याम की दृष्टि में आभिजात्य संस्कारों के प्रतिकूल हो सकता है[२], किन्तु साधारणता में ही दिव्य मानवी की असाधारणता निहित है। इसी प्रकार राम की विरह वेदना की उत्कट अभिव्यक्ति में भी असाधारणता का दम्भ नहीं है। जीवन की सामान्य गरिमा में निहित असामान्यता का ही अनाविल स्वर है।

दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसा-
त्प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्॥'[3]

मुरारि भी राम के विरह-वर्णन को सहज मानवीय स्पर्श से मुक्त नहीं करते। अनवरुद्ध श्वास, शुष्क मुख, स्वरभंग, अवयवों की शान्ति. नेत्रों से अविरल अश्रुपात सभी कुछ प्रमाता की अन्तःपरिधि में दिव्य और संवेद्य हैं।[४] 'वत्स लक्ष्मण. धारय माम्। न शक्नोमि स्तम्भयितुमात्मानम्।'[५] में भी यदि राम अपनी असाधारणता से मुक्त प्रतीत नहीं होते[६] तो उसका कारण प्रमाता की अतिशय भक्तिप्रवणता या असामान्य असंवेदनशीलता हो सकती है। अपने सामान्य मानवीय अनुभूति-परिवेश में वे प्रमाता की अनादि वासना को झंकृत कर नित्य जीवन की अनुभूतियों से एकान्त बहिष्कृत नहीं होते। किन्तु प्रमाता के अनुभव का एक भिन्न क्षेत्र भी है, जहाँ असाधारण पात्र अपनी असाधारणता से शीघ्र ही विगलित नहीं हो पाते। फलतः

---

१. उत्तररामचरितम् प्रथम अंक (काणे-१९६२) पृ० ३०
२. इत्थं पुरुषसमक्षं निस्संकोचतया कथनम् कवेरचातुर्यम् (वही)
३. -वही- ३/३१ पृ० ७१
४. इयमविरलश्वासा शुष्यन्मुखी भिदुरस्वरा तनुरवयवैः श्रान्तस्रस्तैरुपैति विवर्णताम्। (अनर्घराघवम् ५/२२, (चौखम्बा-१९६०) पृ० २८६)
५. -वही- पृ० -वही-
६. रामादिचरितं तु सर्वस्य न हृदयसंवादीति महत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः यदाह-तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् इति॥ ध्वन्यालोकलोचन (जगन्नाथ पाठक) चौखम्बा-१९६५ पृ० १९८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रमाता में द्वैधीभाव बना रहता है। भट्टनायक के शब्दों में 'अलोक-सामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहदिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्।'[1] यहाँ हमारा विवेच्य देवतावर्णनादौ (देवतादिसाधारणीकरणायोग्यत्वात्) तक सीमित है। समुद्र-सेतु-बन्धन आदि की अलोक-सामान्यता के साधारणीकरण का विवेचन अन्यत्र करेंगे। यह तो निश्चय है कि प्रतीतिवाद की परगत प्रतीति के संदर्भ में ही भट्टनायक ने देवता जैसे अलोक-सामान्य असाधारण पात्रों के साधारणीकरण पर प्रश्न चिह्न लगाया है यथा—'न च सा प्रतीतियुक्ता देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्'। किन्तु इस सदर्भ में उल्लेखनीय यह भी है कि इतर संदर्भों के साधारणीकरण की अपेक्षा अलौकिक पात्रों के असाधारण आचरण को जनसामान्य की अनुभूति के धरातल पर संवेद्य बनाना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। भट्टनायक का संभवतः आशय यही है कि जहाँ अत्यन्त असाधारण पात्रों का निर्वैयक्तिकीकरण प्रतीति की ऋजु रेखा में कठिन है, वहाँ प्रमाता की अनुभावनक्षमता अथवा संवादिनी प्रतिभा (कल्पना) को भी अतिरिक्त आयास करना पड़ता है। अभिनव इस विप्रतिपत्ति के आंशिक सत्य को स्वीकार करते हैं। अभिनव कहते हैं कि यदि मुख्य रूप से देवताओं का ही चरित्र वर्णित हो और विप्रलंभ करुण आदि रसों का औचित्यपूर्वक निबन्धन हो तो उसे मनुष्यचरित की समकक्षता में ही ग्रहण करना चाहिए। तद्विपरीत यदि देवताओं के आचरण को विवेक-शून्य दृष्टि से यथावत् प्रस्तुत किया जाता है तो मानव-आचरण के विषय में प्रसिद्ध सहज अवधारणा को आघात लगेगा, और यदि उनके चरित्र में विप्रलम्भ आदि रसों की योजना नहीं की जाती तो उससे सहृदयों का उपरंजन नहीं हो सकेगा। अतः देव-चरित्रों में हृदय का संवाद इस स्तर पर दुर्लभ ही है। उनमें दुःख का एकान्त अभाव मानने से उन प्रतिकार के उपायों का भी वर्णन नहीं किया जा सकता, जिन्हें देखकर सहृदय कोई शिक्षात्मक निर्णय ले सकें।[2] वस्तुतः

---

१. -वही- पृ० १९२

२- यदि तु मुख्यत्वेनैव देवचरितं वर्ण्यते तत्तावद्विप्रलम्भ···रसोचित चेन्निबध्यते तन्मानुषचरितमेव संपद्यते, प्रत्युत देवानामधियाधानं प्रसिद्धि-विघातकम्।

(अभिनवभारती, अध्याय-१८, ११ की वृत्ति पृ० १४४)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

देवतादि का मौलिक चरित्र काव्य की सीमा से एकान्त बहिष्कृत नहीं है। देव भावना अथवा उन पर आधृत मिथकीय संदर्भों में बाह्यार्थ की अपेक्षा आन्तर अर्थ की प्रधानता भाव-सत्य के उन्मीलन में विशेष योग देती है। अत: देवतादि के वर्णन एकान्त व्यक्तिपरक न रहकर निर्वैयक्तिक हो जाते है। अन्योक्ति अथवा रूपक का अन्तर्योग होने से सार्वभौम आदिम मानवीय चेतना को व्यंजित करने में वे विशेष सफल होते हैं। भट्टनायक के विवेचन के समानान्तर कहा जा सकता है कि इन चरित्रों के प्रस्तुतीकरण में स्वगत एवं परगत प्रतीतियों का द्वन्द्वात्मक सन्तुलन रहता है। उदाहरण के लिए उर्वशी के दिव्य चरित्र को लेकर स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य सेतु-निर्माण का कार्य ऋग्वेद (१०-८-९५) से लेकर दिनकर के उर्वशी काव्य के मिथकीय धरातल तक अबाध गति से चलता रहा है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय में इसे मानवीय आयामों का व्यापक कलात्मक स्वरूप प्राप्त हुआ है। पुरूरवा तथा उर्वशी क्रमश: दिव्य तथा मानवीय द्वैधी चेतना की समरसता के प्रतीक हैं। कालिदास ने **'परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्'** के द्वारा प्रतीकात्मक स्तर पर इस द्वैधी चेतना में सामरस्यके सूत्र का अनुसंधान किया है **'इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति'** में दिव्य तथा मर्त्य चेतना के सामंजस्य का स्वर व्यंजित है। अभिनव की शैली का आधार ले कर इस द्वन्द्व-चेतना के सामंजस्य को साधारणीकरण की भूमिका में इस प्रकार विश्लेषित किया जा सकता है कि प्रमाता जब दिव्यरूपता के अध्यवसान के स्तर पर मानवीय चेतना का साक्षात्कार करता है तो उसकी मानसिक भूमिका में दो विरुद्ध चेतनाएँ परस्पर संघर्षरत होती हे। एक स्तर पर वह पात्र मर्त्य नहीं दिव्य है और दूसरे स्तर पर वह मानव के विशिष्ट परिवेश में सम्पूर्ण अनुभूतियों और आचरण के साथ मर्त्य मानव की भूमिका में अवतीर्ण होता है। आदर्श और यथार्थ की दोनों अनुभूतियाँ समंजित होकर दिव्य पात्रों को विशिष्ट संबंध से रहित कर प्रमातृ-मानस में साधारणीकृत होने में योग देती हैं।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

अभिनवगुप्त (अभिनवभारती-लोचन)

साधारणीकरण की उद्भावना का श्रेय भट्टनायक का प्राप्य है, किन्तु उसकी शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रतिष्ठा अभिनवगुप्त ने की है। रस-सिद्धान्त के विकास की चरम प्रौढ़ि पर आरूढ़ उनका चिन्तन वह वट-वृक्ष सिद्ध हुआ जिसकी छाया में किसी समकक्ष चिन्तन-वृक्ष का विकास न हो सका। प्रत्यभिज्ञादर्शन के आधार पर उन्होंने रस-स्वरूप के अन्तरंग-वृत्त में साधारणीकरण को प्रतिष्ठित किया, किन्तु उनकी अद्वैतचेतना विसंवादी तत्त्वों के सामरस्य में प्रतिफलित हुई। पूर्ववर्ती अवधारणाओं के अध्याहार की यह स्वाभाविक परिणति है। उनकी आत्मस्वीकृति के आधार पर उनका चिन्तन पूर्ववर्ती चिन्तन के क्रमिक ऊर्ध्वारोहण का साक्ष्य देता है।[1] अभिनव का विश्वास है कि चिन्तन के आरम्भिक प्रयास अपनी सीमाओं और आन्तरिक असंगतियों के अन्तर्गत ही परवर्ती प्रौढ़ चिन्तन की आधार-भूमि का कार्य करते हैं। फलतः अभिनव के चिन्तन की मौलिकता पूर्ववर्ती आचार्या के स्थापित सिद्धान्तों में आभ्यन्तर संगति के अनुसंधान में ही निहित है।[2]

---

१. इत्थं स्वयंग्राह्यमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ॥
ऊर्ध्वार्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥
-नाट्यशास्त्रम् (भाग-१), अभिनव भारती, पृ० ३७८

२. चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
सन्मार्गलाभे सति सेतुबन्ध-पुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय ॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अभिनव के चिन्तन के मौलिक अन्तःसूत्र परवर्ती आचार्या के लिए प्रेरणा-स्रोत बने तथा एकाध अपवाद के अतिरिक्त परवर्ती आचार्यों ने मुक्त स्वर में उनके सिद्धान्तों में आस्था व्यक्त की है। यह बात भिन्न है कि अपने विशिष्ट दर्शन के आलोक में पंडित-राज जगन्नाथ जैसे समीक्षकों ने प्रत्यभिज्ञादर्शनमूलक उनके चिन्तन की अद्वैतपरक व्याख्या प्रस्तुत की। यहाँ हमने विशिष्ट दार्शनिक संदर्भ से मुक्त कर उनकी अवधारणा को काव्य वस्तु तथा प्रमाता की चेतना के व्यापक अन्तःसंबंधों के स्तर पर व्याख्यायित किया है। यह तथ्य अवश्य विचारणीय है कि तत्कालीन परिवेश के यौन-वर्जना-मुक्त आचारण तथा उनके उदात्त, किन्तु लोक-मर्यादा-बाह्य जीवनदर्शन के अन्तःसामंजस्य में विसंवादी सूत्रों का विवेकनिष्ठ अध्याहार हुआ है।

राजतरंगिणी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी तथा तंत्रालोक के समन्वित साक्ष्य एवं डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, पी० वी काणे तथा एस० के० डे के विवेचन के अनुसार अभिनवगुप्त (९५० ई०-१०२० ई०) का रचनाकाल ९८० तथा १०२० ई० के मध्य चालीस वर्ष की सुदीर्घ सीमा में व्याप्त है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी की रचना मार्गशीर्ष के अन्त में ४११५ कलिवर्ष (१०१४ ई०) में पूर्ण हुई। इनके शिष्य क्षेमेन्द्र कलश (१०६३) के समकालीन थे। अतः अभिनव भी अनन्त, कलश इत्यादि राजाओं के शासन-काल में ही रहे होंगे। यह युग विदेशी आक्रमण, प्रवंचना तथा वैयक्तिक पराक्रम-प्रदर्शन का अस्थिर युग था।[1] गम्यागम्य[2], स्व-पर की चेतना से मुक्त निर्बाध कामतुष्टि जब जीवन-दर्शन का पर्याय बनी तो तांत्रिकों और भैरवों के वर्जनामुक्त पाखंड के प्रति सहज आकर्षण भी उत्पन्न हुआ। कलश के गुरु प्रमदकण्ठ निःशंक भाव से अपनी पुत्री के साथ

तस्मात्सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥
(वही- पृ० -वही)

१. पतिवरेव राज्यश्रीर्भृत्यान्नवनवोन्मुखी
(राजतरंगिणी ७/२०२, पृ० २०१)

२. गम्यागम्यविचारस्य परिहर्ताऽभवद्गुरुः
(वही ७/२७७, पृ० २०६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सुरत सुख का अनुभव करते थे।[1] राजा के हृदय से भी गुरु ने गम्यागम्य का विचार हटा दिया था। ये गुरु स्वयं निःसार मूर्ख होते हुए भी राजा प्रजा को मूर्ख एवं चरित्रभ्रष्ट बनाने में समर्थ थे।[2] कल्हण ने इस उच्छृंखल परिवेश को मूर्त करते हुए बड़े व्यापक रूप में तत्कालीन नैतिक और आध्यात्मिक पाखण्ड का विवरण प्रस्तुत किया है।

वामाचार एवं तंत्र साधना के प्रसार प्रचार के लिए भी यह परिवेश स्थूलतः अनुकूल था। परस्त्रीरमण को इस दर्शन से प्रेरणा मिली। परस्त्रीरमणेन च (कौलावली)। यह वर्जनामुक्त काम विशुद्ध दर्शन की पीठिका पर चेतना के उदात्तीकरण का पर्याय बना। आजीवन ब्रह्मचारी अभिनव ने तंत्र-साधना के परिवेश में काम के उद्दाम स्वरूप का विस्थापन एवं सूक्ष्म प्रतीकीकरण किया। चक्रपूजा में तर्पण की व्याख्या करते हुए जयरथ उसका स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :—

'योषितश्चैव पूज्यन्ते पुरुषश्चैव पूजकः।[3]

बृहदारण्यक में भी इस रूप का उल्लेख है, किन्तु अभिनव ने अपने विशिष्ट स्तर पर इसका उदात्तीकरण किया है। यह निराकांक्ष साधना है। 'तच्च चितो नैराकांक्षयोत्पादात् विकासः समुच्चलद्रूपत्वमित्यर्थः।[4] अभिनव की साधारणीकरण विषयक अवधारणा में इस संदर्भ के योग पर हम आगे विचार करेंगे, तत्कालीन परिवेश को इस चिन्तन के समानान्तर देखना ही यहाँ विशेष प्रासंगिक है।

राजा चौर्यरतौत्सुक्यात्प्रतिगेहं परिभ्रमन्।
स्वदारालिंगनैः प्रीतिं क्षणदासु न लब्धवान्॥
पारतन्त्र्यकृतापारप्रीतिः परवधूरतिः।
अभिलाषानलोत्सेके रागभाजां घृताहुतिः॥[5]

---

१. त्यक्तशंकः प्रववृते स्वसुतासु रतेऽ्पि यः
(वही, २/२७८, पृ० २०६)
तुलनीय-स्वपत्नी भगिनी माता दुहिता वा शुभा सखी
(तंत्रालोक २९/१०२, पृ० ७२)

२. राजतरंगिणी, पृ० २०६

३-४. तन्त्रालोक (कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि-१९३६) पृ० ७९ (एकोनत्रिंशमाह्निकम्), पृ० ७७

५. राजतरंगिणी ७/३०५-३०६, पृ० २०८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तन्त्रालोक में मुद्रा का उल्लेख इस प्रकार है :—

ततस्तत्रानयद्दूतीं मदघूर्णितलोचनाम् ।
भैरवाचारसम्पन्ना अमृतानां च सस्पृहा ।
सदैवाद्वैतनिरता अभ्यासस्था दृढव्रता ॥[३]

इस समीकरण का अनिवार्य परिणाम था लालित्य के प्रति आग्रह। उच्छृंखल विलास एवं समृद्धि का निकटवर्ती प्रभाव कला एवं साहित्य के उदात्त संघनित मूल्यों के स्थान पर ललित सूक्ष्म क्रीडावृत्ति के प्रतिष्ठित रूप में दिखाई देता है। नाट्य-रचना के विराट् औदात्य में काव्य का लालित्य क्रमशः प्रगाढ़ हुआ। मुक्तकों और सुभाषितों के क्रीडा कौतुक या शिल्पसिद्धि के तरल चमत्कारों के रूप में काव्य सौंदर्य उद्‌घाटित होने लगा। महाकाव्यों की विशिष्टता भी उनके मुक्तक प्रायः ललित विम्बों के के अन्तर्गत ही उद्‌भासित होने लगी। इन चित्रों में जीवन के द्वन्द्व एवं तनाव के यथार्थ सकर्मक अन्तर्दर्शन के स्थान पर जीवन के अभिजात विम्बों का कलात्मक संयोजन है। रुग्ण मानसिकता के विरोध में अभिनव ने जिस कलादर्शन की प्रतिष्ठा की उसमें तत्कालीन चमत्कार-प्रधान अलंकरण तथा निरपेक्ष कलात्मक संयोजन के प्रति विद्रोह का स्वर भी मुखर हुआ। एक स्तर पर अभिनव तत्कालीन तन्त्र तथा उससे प्रेरित परिवेश को अपनी अवधारणाओं की पृष्ठ भूमि के रूप में प्रयुक्त करते हैं तो दूसरे स्तर पर अलंकरण प्रधान काव्य मनीषा को एक विशिष्ट उदात्त रागात्मक मूल्य-वोध के प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरित भी करते हैं।

अभिनव की समन्वयवादी अवधारणा

अभिनव ने यद्यपि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धान्तों का सुनियोजित आख्यान प्रस्तुत किया है,[१] तथापि उनके अनुभूत दर्शन एवं सौंदर्य-शास्त्रीय अवधारणाओं के वोग से उनमें अभिनव का निजी वैशिष्ट्य उभर आया। उनके चिंतन के आधार-सूत्र अभिनवभारती तथा लोचन में

---

३. तन्त्रालोक, पृ० ६८-६९

१. तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥
(अभिनवभारती (दिल्ली-१९७३), पृ० ४६९)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उपलब्ध हैं। उनमें एक समन्वयवादी दृष्टि स्पष्ट लक्षित होती है। रस का व्यापक स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए[1] वे उसकी परिधि में नाट्य, काव्य के सारभूत प्रभाव, प्रधान पात्र की चित्तवृत्ति एवं प्रमाता की अन्तःवासना के विस्तार को आयत्त कर लेते हैं। सभी का आंशिक औचित्य है और उनके आधार पर उस के व्यापक स्वरूप का स्थापत्य खड़ा होता है। रसास्वाद की प्रक्रिया में वे कवि की सर्जन चेतना[2] को स्वीकार करते हैं। एक स्तर पर वे आदर्श प्रमाता का परिनिष्ठित अमूर्तीकृत विम्ब उपस्थित कर काव्यास्वाद की अत्यन्त सीमित चेतना के प्रति आस्था दिखाते हैं[3] तो दूसरे स्तर पर अपेक्षाकृत अल्पज्ञ तथा असंस्कृत प्रमाताओं की रसास्वाद-चेतना को भी दृष्टि में रखते हैं।[4] इस प्रकार प्रमाता की ग्राहिका शक्ति, उसके अपेक्षित गुण तथा नायक अथवा प्रधान पात्र के भाव-जगत् में प्रवेश करने वाली अन्तर्दृष्टि का वे विवेक सम्मत आख्यान करते हैं।

रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया में उत्पत्ति प्रतीति[5], अनुमिति[6], भुक्ति[7] एवं

---

१. तेन रस एव नाट्यम् ६/१५, पृ० ४२८
   (क) तत्काव्यार्था रसः ६/३१
   (ख) नायकाभिधान-भोक्तृविशेष-स्थायि-चित्त-वृत्ति-स्वभावः (पृ० ४२७)
   (ग) सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः (पृ० ४७३)
२. अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां, जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च। क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत् ।।
   (ध्वन्यालोकलोचन, चौखम्बा-१९६५, पृ० १)
३. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः।
   (अभिनवभारती, पृ० ४७०)
४. अहृदयानां चैतदेव नैर्मल्याधायि। यत्र पतिता गीत-वाद्य-गणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्। (वही, पृ० ४९३)
५. प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः।
   (अभिनवभारती, पृ० ४६५)
६. व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योभयकम्पयोरिव वा। (वही- पृ० ४७६)
७. यत् काव्येन भाव्यन्ते रसाः इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव।
   (वही, पृ० ४६७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अभिव्यक्ति की केन्द्रीय अवधारणाओं का अध्याहार कर वे अपनी रस-दृष्टि से उसकी संगति निर्दिष्ट करते हैं। भट्ट लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक की अवधारणाओं की वे आलोचना करते हैं, किन्तु उनमें निहित सत्यांशों को आत्मसात् कर समन्वित रसदृष्टि का विकास करते हैं।[१] लौकिक अनुभूति से वे काव्यानुभूति का पार्थक्य स्पष्ट करते हैं[२], किन्तु लौकिक अनुभूति की प्रकल्पनाओं को एकदम तिरस्कृत नहीं करते।[३] प्रमाता की तन्मयता को वे अभीष्ट मानते हैं[४], किन्तु तादात्म्य एवं द्वैताद्वैतमूलक चेतना को भी उसमें अन्तर्भावित करते हैं। रस आनन्दात्मक अनुभूति के स्तर पर ही उन्हें स्वीकार्य है, किन्तु इतर उद्वेजक दुःखात्मक अनुभूतियों की सहकारिता को वे अक्षुण्ण रखते हैं।[५] काव्य या नाटक के भावपक्ष में ही उनकी एकान्त आस्था है[६], किन्तु गुण, रीति, अलंकार के महत्त्व को भावबोध की सापेक्षता में निर्भ्रान्त स्वीकृति देते हैं।[७] उनकी आदर्शमूलक आस्था एवं रस-चेतना प्रख्यात वस्तु में ही हृदय संवाद की व्यापक अपेक्षाएँ खोजती है[८], किन्तु

---

१. नहि तत्र अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः इति स्मरणीय-प्रतिपत्तिः, अपि तु तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसंकल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिनां फलकृत्। (वही, पृ० ४६४)
(तुलनीय) यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभिः संयुज्यमान एव गौरित्यादि···
(पृ० ४६०)

२. लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं···आस्वादरूपसंवेदनसंवेद्य वस्तु रसस्वभावमिति (वही, पृ० २६)

३. तथाहि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः, प्रमदादि न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। (वही, पृ० ४८५)

४. साक्षादिव हृदये निविशमानं,······ (वही, पृ० ४७६)

५. किन्तूपरञ्जकविषयवशात् तेषामपि कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। (वही, पृ० ४७८)

६. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। (वही, पृ० ४९२)

७. सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, ······(वही, पृ० ४७६)

८. अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तु-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उत्पाद्य कथा के आवश्यक महत्त्व और उसकी संभावनाओं की वे उपेक्षा नहीं करते[1]। दृष्टि उनकी प्रबन्धात्मक[2] है, किन्तु मुक्तक[3] के गौरव का वे मुक्त कंठ से स्तवन करते हैं। रस-बोध की प्रक्रिया की व्याख्या वे सामाजिक के दृष्टिकोण से करते हैं[4], किन्तु काव्यार्थ के वस्तुगत आधार की भी वे एकान्त अवमानना नही करते[5]।

उनकी समन्वय चेतना को दृष्टि में रख कर ही उनके रसचिन्तन तथा साधारणीकरण के व्यापक स्वरूप को यथार्थ परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया जा सकता है। उनकी साधारणीकरण की अवधारणा में यदि काव्यार्थ की नियत सम्बन्ध से मुक्ति, देशकालातीत भावरूपता, प्रमाता की मुक्तचेतना अथवा व्यक्ति संसर्गों से मुक्ति, नायक से तादात्म्य, आश्रय से सहानुभूति पात्रों की परिहृत विशेषता, स्थायी का सार्वभौमीकरण, विभावों का सामान्यत्व, अनुभावों की पात्र विशेष से मुक्ति आत्म-विश्रान्ति, साक्षात्कारात्मिका प्रतीति इत्यादि अनुषंग प्रकारान्तर से समाहित हो गये हैं तो यह उनके दृष्टिकोण की समन्वयात्मकता की स्वाभाविक परिणति है जो पूर्व-प्रतिष्ठापित योजनाओं को सुनिश्चित मनोवैज्ञानिक दार्शनिक एवं काव्यशास्त्रीय आधार पर प्रतिष्ठित कर देती है, फिर भी उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उनकी केन्द्रीय संवेदना इन संवादी एवं विसंवादी अवधारणाओं को संश्लिष्ट कर जिस बहुआयामी सौंदर्य-चेतना में रूपान्तरित करती है, उनके

विषयत्वादि नियमेन निरूप्यते।

(अभिनवभारती, पृ० ४७४)

१. तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषय:।
(वही, पृ० वही)

२. तच्च प्रबन्ध एव भवति। (वही, पृ० ४६२)

३. तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभि: सहृदयास्तेषां परिमित-विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्प: काव्यार्थ: स्फुरति।
(वही, पृ० वही)

४. विगतरागद्वेषा:, मध्यस्थवृत्तयो निर्मलहृदयमुकुरे सति तन्मयीभवन-योग्यतोपेता आहितरसास्वादा: सामाजिका, इत्येतत्।
(वही, पृ० १०६)

५. -वही- पृ० ४७७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

समन्वय से उद्भूत किन्तु किंचित् भिन्न एक ऊर्ध्वमुखी संवेदन आकार ग्रहण करने लगता है, जिसमें अभिनव की निजी मौलिक दृष्टि का उन्मेष लक्षित होता है।

काव्यास्वाद-प्रक्रिया

काव्यानुभूतिविषयक अभिनव के आधारभूत सूत्रों को इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

काव्यास्वाद को ग्रहण करने के लिए नव नव अर्थों का उन्मेष एवं ग्रहण करने वाली ऐसी प्रतिभा अपेक्षित है, जिसकी शक्ति सामान्य वाच्यार्थ के परिज्ञान मात्र में ही निःशेष न हो जाए। मूलतः काव्यार्थ ही रस है, अतः अधिकारी प्रमाता ही काव्यात्मक शब्द से अधिक की प्रतीति करने में समर्थ होता है।[1] यह प्रतीति कालादि के विभाग का अतिक्रमण कर मानसी साक्षात्कारात्मिका रूप में उद्भूत होती है। वाच्यार्थ के स्तर पर काव्य में वर्णित संदर्भ अतीत के वर्णन हो सकते हैं, किन्तु वाच्यार्थ को अतिशायित कर ये वर्णन प्रत्यक्ष जैसे अनुभूत होते हैं। अतिशायित प्रतीति के अनन्तर आश्रय एवं आलम्बन विशेष एवं वास्तविक न रह कर देशकालादि से पूर्णतः असम्बद्ध भाव-बिम्ब में परिणत हो जाते हैं।[2]

प्रमाता उस भावबिम्ब को एकान्त निर्वैयक्तिक एवं व्यक्ति-संसर्ग से मुक्त निर्विशेष रूप में ग्रहण करता है। उस भाव-विशेष के प्रति न तो प्रमाता के मन में ममत्व, परत्व अथवा औदासीन्य का भाव रहता है, और न सुख दुःखादि से नियंत्रित बुद्धि का अनुप्रवेश ही। इसमें प्रमाता के निजत्व का एकान्त लोप भी नहीं होता और न वह अपने व्यक्तित्व का साग्रह अनुभव ही कर पाता है। उसकी आत्मा न पूर्णतः तिरस्कृत होती है

---

१. काव्यात्मकादपि शब्दाधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्तिः।
(नाट्यशास्त्रम्, प्रथम भाग, बड़ौदा-१६५६ पृ० २७८)

२. वाक्यार्थपतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।
(वही, पृ २७६)

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

और न उल्लिखित ही।[1] विभाव एवं प्रमाता दोनों के देशकाल की चेतना से मुक्त निर्वैयक्तिक हो जाने के अनन्तर रस की मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है। रस साक्षात् हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा, नेत्रों के सम्मुख संचरण करता-सा प्रतीत होता है।[2]

स्पष्टत: अभिनव द्वारा निरूपित आस्वाद-प्रक्रिया के केन्द्र में मानसी साक्षात्कारात्मिका कालातीत स्थिति की विशिष्ट संकल्पना है। प्रथम स्तर पर यह चेतना वाक्य में निहित वाच्यार्थ को अतीत वर्तमान के कालिक बन्धन से मुक्त कर व्यंजना के स्तर पर कालातीत संवेदना में परिणत करती है।[3] दूसरे स्तर पर सामाजिक के मानस में जो आश्रय अथवा आलम्बन का भाव-बिम्ब अंकित होता है उसकी देशकाल की सीमाएँ तिरोहित हो जाती है। ग्रीवाभंगाभिरामं वाले श्लोक में वह मृगशिशु का प्रत्ययीकृत रूप मात्र होता है तथा उसका त्रास भी त्रासक के देशकालातीत होने से कालातीत एवं निर्विशेष रूप में ही उदित होता है।[4]

कालातीत चेतना में प्रमाता की मानसी स्थिति का विश्लेषण करते हुए अभिनव इस की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं। अभिनेता रामादि की जिस भूमिका में अवतीर्ण होता है, उसी के अनुरूप मुकुट प्रतिशीर्षक आदि धारण करता है। अत: रसानुभूति के क्षण में प्रमाता राम की भूमिका में अवतरित नट को नट रूप में ग्रहण नहीं कर पाता। मुकुट प्रतिशीर्षक आदि के कारण नटत्व का मौलिक रूप तिरोहित हो जाता है। प्रमाता में भी इन अभिव्यंजनात्मक उपकरणों के आवरण में नटत्व बुद्धि

---

१. तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखित:।
(वही, पृ० वही)

२. विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रस:।
(नाट्यशास्त्रम्, पृ० २७९)

३. नाट्यशास्त्रम्, पृ० २७९

४. तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्।
(वही, पृ० वही)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

आच्छादित हो जाती है। काव्य बल से लायी हुई रामत्व की पूर्वकालिक बुद्धि भी उसमें (नट में) स्थित नहीं हो पाती[1]। अतएव नट एवं राम दोनों की सत्ता देश काल से मुक्त हो जाती है।

साधारणीकरण विषयक अवधारणा

अभिनव के साधारणीकरण की महत्वपूर्ण उपलब्धि द्वंद्वात्मक सामंजस्य की अवधारणा है जो काव्यवस्तु तथा प्रमाता के अन्तःसम्बन्ध को द्वंद्वों के अनेकायामी समन्वय में व्याख्यायित करती है। तथ्य यह है कि जब दो विशिष्ट बिम्ब एक दूसरे के समानान्तर प्रस्तुत होकर अन्तः प्रतिबिम्बित होते हैं तो उनका वैशिष्ट्य क्रमशः धूमिल पड़ने लगता है। स्वरूप की विशिष्टता भाव के निर्विशेषीकरण में परिणत हो जाती है। पात्र कवि की विशिष्ट अनुभूति का प्रतीक होता है, साथ ही शब्द बिम्ब भी सामान्यीकृत प्रत्ययों का अतिक्रमण कर विशिष्ट चित्रों में पुनरुद्भावित होते हैं[2] किन्तु इन विशिष्ट बिम्बों में कवि की विशिष्ट अनुभूति जब प्रतिफलित होती है तो उसके अनुभावन से प्रमाता की अन्तश्चेतना रूढ़ एवं पूर्वनिर्दिष्ट अवधारणाओं से मुक्त होकर आभ्यन्तर संहति का पुनरनुसंधान करती है।

अभिनव इस द्वंद्वात्मक सामंजस्य को अनेक स्तरों पर व्याख्यायित करते हैं। काव्यार्पित विभावों के साक्षात्कार से व्यष्टि प्रमाता की अनादि वासना में निहित संस्कार स्मृति (मानससाक्षात्कारात्मक प्रतीति) अथवा प्रतिभान में परिणत हो जाते हैं। इस स्मृति (प्रतिभान)[3] में लौकिक अलौकिक, कृत्रिमता

---

१. मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्यागः। (वही, पृ० २८५)

२. काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्तिः। (नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २७८)

३. (अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरूपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा। पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूत्वात्। अपितु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति।) सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति। तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपादिरूपा॥ (वही, पृ० २७६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

एवं वास्तविकता की निषेधात्मक प्रतीतियों का संतुलन रहता है। अर्थात् विशिष्ट सौंदर्य की साक्षात्कारजन्य अनुभूति के मूल में निहित कवि कल्पना का वैशिष्ट्य रूप-विधान में आविष्ट होकर प्रमाता की चेतना में न एकान्त विशिष्ट रह पाता है और न एकान्त निर्विशिष्ट ही।

इसी द्वन्द्वात्मक स्तर पर काव्यार्पित विभाव भी अपने विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त निर्विशेषीकृत धरातल पर प्रस्तुत होते हैं। प्रमाता की चेतना राम सीता के दाम्पत्य के उत्कर्ष एवं वैशिष्ट्य को कविनिबद्ध औचित्यमूलक प्रणय-चेतना के वैशिष्ट्य में अन्तःबिम्बित देखकर उसका कान्ताभाव की निर्द्वन्द्व साधारणीकृत भूमिका पर संधान करती है।

ध्यातव्य यह है कि अनादि वासना में केवल रत्यादि की सहज वासना नहीं, राम कृष्ण आदि के पुराकल्प बिम्ब भी अस्फुट रूप से विद्यमान रहते हैं। सजातीय पात्र जैसे जैसे अपने आचरण से स्वयं को परिभाषित करते हैं प्रमाता भी उनकी अभिव्यंजनागत अपेक्षाओं का अपनी संस्कार सापेक्षता में पुनरनुसंधान करता है। प्रमातृगत स्तर पर अनुमानाभ्यास तथा विभावों के स्तर पर पुरातन संस्कारों के उपजीवित्व की स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि विभावों का मौलिक स्वरूप कविनिबद्ध रूप के समानान्तर प्रमातृचेतना में गतिशील रहता है।[1]

क्रमशः प्रमाता की चेतना में वे पात्र समाहित होते हैं तथा प्रमाता भी अपने विशिष्ट धरातल से मुक्त उनके अन्तश्चैतन्य में प्रवेश करता है। फलतः नायक एवं सामाजिक की चित्तवृत्तियों का तादात्म्य हो जाता है।[2]

यह तादात्म्य आभ्यन्तर अस्तित्व का संधान है जिसमें स्वकीय परकीय भाव की सूक्ष्म जटिल संवेनाएँ पात्रों से प्रमाता के व्यक्ति संसर्ग को स्वरूप

---

१. प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय।
(नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २८४)

२. स्वपरभावात् प्रच्याविता, अतएव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती, तादात्म्यादेव च अनुमानागमयोगि-प्रत्यक्षादिकरणकतटस्थप्रमातृप्रमेयपरकीयलौकिकचित्तवृत्तिविलक्षणतया निर्भासमाना…। (वही, पृ २६६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

(वाच्य) की दृष्टि से धूमिल तथा ध्वन्यर्थ (सारभूत प्रभाव) की दृष्टि से व्यापक बनाती है ।[1]

आश्रय एवं आलम्बन के सजातीय (रति) भाव अथवा विसंवादी (उत्साह एवं भय) भाव भी देशकालातीत होकर अनुभूति मात्र में पर्यवसित होते हैं। यह बोध भी मूलतः वैशिष्ट्यमूलक होता है। दुष्यन्त के वाण लगने के भय से पलायित हरिण का भय एक विशिष्ट क्षण के विशिष्ट हरिण का भय है जो विशेष काल के विशिष्ट व्यक्ति (त्रासक) से उद्भूत है। प्रमाता की चेतना में वह भय अभिव्यंजित होकर एक पारदर्शी चेतना में रूपान्तरित होता है। उसमें पीड़ाएँ और भय की संख्यातीत काल परिवाही छायाएँ झलमलाने लगती हैं। यह कालसातत्य का बोध ही कालातीत अनुभूति है जिसमें अनुभूति एक विशिष्ट काल की न रहकर सब कालों की अनुभूति बनती है। यही काल का अन्योन्य प्रतिबन्धन है।

प्रमाता की चेतना में पात्रों के अतीतकालीन अस्तित्व में अप्रत्याशित रूप से उभरने वाली वर्तमानकालीन चेतना उनके अपारदर्शी अमूर्त व्यक्तित्व को क्रमशः मूर्त और सघन करती है। फलतः उसके कालबोध में असन्तुलन पैदा होता है। इस असन्तुलन के कारण वह अतीत चेतना की प्रामाणिकता अप्रमाणिकता से मुक्त होकर उनके ऐतिहासिक इतिवृत्त का अपने अनुभूत परिवेश में पुनरनुसंधान करता है। अतः पात्रों के मौलिक विम्व तथा प्रमाता के अनुभूत विम्व में एक मानसिक अन्तराल काल की विसंगत चेतनाओं को नियंत्रित कर अनुभूति की शाश्वत कालधारा का अविभाज्य अग बना देता है। प्रमाता की चेतना में राम और सीता के प्रणय का गतिमान विम्व प्रणय की विविध अनुभूतियों को एकत्र समन्वित कर आवेग की तीव्रता से उद्भावित होता है। इसमें राम-सीता की ऐतिहासिक विद्यमानता, उनकी कवि की निजी अनुभव-वैशिष्ट्य जन्य कल्पना अर्थात् शब्दार्थ के कलात्मक प्रयोगों में अभिव्यंजित काल चेतना तथा प्रमाता के अनुभूत काल की विशिष्ट चेतना परस्पर संयुक्त होकर अनुभूति को निर्विशिष्ट कालातीत बनाती है।[2]

---

१. नाट्यशास्त्र (भाग १), पृ० ४२८

१. एतादृशा वै रामादयो न कदाचन प्रमाणपथमवतार्यन्ते। यदागमेन वर्ण्यन्ते तदा तद्विशेषबुद्धिर्यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्या-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इस कालातीत चेतना का बोध दो विरुद्ध बुद्धियों के द्वंद्वात्मक सामंजस्य से भी उभरता है। दो विशिष्ट चेतनाओं के अन्तःसंघर्ष से उद्भूत निर्विशिष्ट चेतना-पर्यवसायी बोध साधारणीकरण की मौलिक प्रक्रिया है। काव्य में कवि कल्पना के निजी वैशिष्ट्य में, कलात्मक प्रयोगों से अभिव्यंजित राम अथवा मंच पर नट में अध्यवसित राम प्रमाता की चेतना में दो भिन्न धरातलों पर उपस्थित होता है।[1] एक स्तर पर वह विशिष्ट देश काल की चेतना से परिबद्ध राम है जिसे कवि नाटककार तथा नट ने एक विशिष्ट कालिक आयाम दिया है। दूसरे स्तर पर वह नाट्य प्रसाधनों से आच्छादित नट का अथवा काव्य में अभिव्यंजित उपकरणों का मूर्त विशिष्ट रूप है। ये दोनों रूप उसकी चेतना में द्वंद्वात्मक सामंजस्य में आकार ग्रहण करते हैं। दोनों ही—राम एवं नट—अपने विशिष्ट कलात्मक अस्तित्व से नियंत्रित हैं। किन्तु एक दूसरे में अन्तःप्रतिबिंबित होकर निर्विशिष्ट अथवा साधारणीकृत होते हैं अर्थात् नट के माध्यम से अथवा कवि के निजी विशिष्ट अभिव्यंजित अनुभूति-परिवेश में जब प्रमाता अपने अनुभव-परिवेश का पुनरनुसंधान करता है तो वह विशिष्ट पात्रों को कालातीत आयाम में उपस्थित कर साधारणीकृत करता है।

यह कालातीत बोध एक निर्विशिष्ट साक्षात्कारात्मिका प्रतीति है जिसे अभिनव ने एक स्तर पर शब्दार्थ की कलात्मक अन्तःसंहति अर्थात् उसके बिम्बात्मक रूपायन की अनिवार्य परिणति तथा दूसरे स्तर पर प्रमाता का आत्मपरामर्श अथवा आत्मानुसंधान निर्दिष्ट किया है।[2]

मीमांसा दर्शन के समानान्तर अभिनव काव्य में प्रयुक्त शब्दार्थ के अन्तःसम्बन्ध की देशकालातीत चेतना का विश्लेषण करते हैं 'प्रजापति ने अपनी वपा को अग्नि में डाला' वाक्य में अधिकारी प्रमाता विशिष्ट प्रजापति के विशिष्ट सिद्ध कर्म का बोध नहीं करता अपितु देश काल से मुक्त विधि रूप में निर्विशेषीकृत साध्य क्रिया के रूप में उसे अंगीकार कर कर्म में प्रवृत्त

दुल्लसति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मकस्वालक्षण्यपर्यवसानम्। न च तेषां वर्तमानता इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धिः। (नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ३५-३६)

१. वही, पृ० २८५

२. वही, पृ० २६६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

होता है। इसी के समानान्तर काव्य में प्रयुक्त शब्द काव्यकृति के विशिष्ट संदर्भों के अन्तःसूत्र से संश्लिष्ट रहते हैं किन्तु पुनः काव्य के मूल प्रतिपाद्य में विम्बित-प्रतिविम्बित होते हुए प्रेरक भाव को निर्विशिष्ट देशकाल निरपेक्ष अनुभूति के सातत्य में परिणत कर देते हैं। यही काव्य के शब्दों की साक्षात्कारात्मिकता अतिशायित प्रतीति हैं।[1]

यह अनुभूति एक स्तर पर आत्मास्वाद एवं आत्मपरामर्श है। वाण विद्ध क्रौंच के निधन पर रुदन करती क्रौंची का शोक या वाणविद्ध होने की आशंका से पलायित हरिण का भय प्रमाता का साधारणीभूत भय ही है जिसमें पीड़ा और भय के संख्यातीत संदर्भ निर्विशिष्ट होकर अनुभूति के पुनरनुसंधान का पर्याय बनते हैं। क्रमशः त्रासक एवं त्रस्त की ऐन्द्रिय एवं गोचर अनुभूति मानस साक्षात्कार में परिवर्तित होती है तथा प्रमाता उनके क्रमागत अनुभूति परिवेश में समभागी बनता है। क्रमशः परिवेश की वास्तविकता लुप्त हो जाती है तथा कालसम्वन्ध प्रमाता की चेतना में कारणकार्यसम्वन्ध से मुक्त तथा स्मृति में मूलबद्ध संस्कारों के निःसीम बोध के रूप में अवतरित होता है जिसके मूल में निहित कर्तव्योन्मुखता, सुख दुःख हर्ष की स्वगत प्रतीतियाँ तिरोहित हो जाती हैं एवं प्रमाता संविद् मात्र रह जाता है।[2]

---

१. यथाहि 'रात्रिमासत'। 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्राददतितीव्रप्ररोचिताऽप्रथमप्रवृत्तादनन्तरमधिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैवास्ते (से) प्रददानीत्यादिरूपां संक्रमणादिस्वभावा यथादर्शनं प्रतिभाभावना विध्युद्योगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्ददधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्तिः।

(नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २७८)

२. वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति 'त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितम्'। तत एव, 'भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा' इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादि बुध्यन्तरोदयनियमवत् तथा विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः तथाविधे हि

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अधिकारी सहृदय

विभावादि रस-सामग्री के अनवद्य होने पर भी यदि प्रमाता में स्वाभाविक अथवा अभ्यासजन्य तन्मयता की क्षमता नहीं है, तो रसानुभूति का वृत्त अपूर्ण ही रहता है। वस्तुतः साधारणीकरण के केन्द्र में सहृदय ही है, अतः अभिनव ने सहृदय की योग्यता तथा रसानुभूति के लिए अपेक्षित उसकी मानसिक एवं रागात्मक सम्भावनाओं और सीमाओं का विस्तृत विवेचन किया है। सहृदय में रसानुभूति की योग्यता स्वाभाविक तथा अर्जित, दोनों स्तरों पर आवश्यक है। स्वाभाविक स्तर पर यह एक विशिष्ट संस्कारवद्ध मानसिक योग्यता है, जिसमें हृदय-तत्त्व का अभिन्न योग रहता है। अतः अभिनव के अनुसार काव्यास्वाद का अधिकारी वही है, जो निर्मल प्रतिभानयुक्त हृदय का स्वामी है।[1] प्रतिभान मूलतः नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का पर्याय है। प्रमाता में ऐसी प्राकृतिक शक्ति का होना नितान्त अपेक्षित है. जिससे वह शब्दों के बाह्य आवरण को भेद कर उनके आभ्यंन्तर में निहित वाग्वैभव का साक्षात्कार कर सके। जो सहृदय वाक्यार्थ बोध के अनन्तर अतिरिक्त अर्थ को ग्रहण करता है, वही उत्कृष्ट भावक है, उसी की प्रज्ञा वर्णनीय वस्तु में नवीन-नवीन अनुभूतियों के साक्षात्कार में प्रवृत्त हो सकती है[2]। कालरिज ने इसे विसंवादी अनुभूतियों को संश्लिष्ट करने वाली तथा परिचित वस्तुओं को नवोन्मेष में अभिव्यंजित करने वाली कल्पना कहा है।[3]

यह प्रज्ञा दीर्घकालीन काव्यानुशीलन की भूमि में विकसित हो कर वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता अर्जित करती है। जब तक सामाजिक का हृदय-दर्पण अपेक्षित विम्ब ग्रहण में समर्थ नहीं हो जाता, तब

भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः।
(नाट्यशास्त्र भाग १, पृ० २७९)

१. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः (ना०शा० पृ० २७९)

२. शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम् पुनश्च वर्णनीय वस्तुनिष्ठः प्रज्ञाविशेषः प्रतिभानम्। (लोचन)

३. This power reveals itself in the balance or reconciliation of opposite or discordant qualities. (Coleridge Biographia Literaria)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तक लोचनकार के शब्दों में उसे सहृदय नहीं कहा जा सकता ।'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।' भारती में अभिनव ने सहृदय की कवि-हृदय अर्थात् वर्ण्य विषय से तादात्म्य स्थापित करने की, योग्यता पर विशेष बल दिया है, तथा इस शक्ति को सहृदय की हृदय-विमलता का प्रमाण माना है ।[1]

आधुनिक शब्दावली में यह सहृदय के अन्तश्चेतन तथा वर्ण्य-विषय की द्वैत सत्ता के तिरोधान की दिशा है, जिसमें प्रमाता का अहम् अचेतन स्तर पर कवि के भावों का अनुभावन करता है ।[2] अभिनव की दृष्टि मूलतः एक आदर्श सामाजिक की ही दृष्टि है । ब्रह्मा द्वारा नाट्य के अधिकारी का निरूपण कराते हुए वह आदर्श सहृदय की संकल्पना को इस प्रकार मूर्त करते हैं—क्रीडा प्रस्ताव अथवा मनोरंजक उपकरणों के द्वारा शिक्षा देने योग्य, रागद्वेष से रहित मध्यस्थ वृत्ति वाले निर्मल दर्पण के समान हृदय में तन्मयी भवन की योग्यता से युक्त तथा रसास्वाद के प्रति ग्रहणशील सामाजिक ही नाट्य-प्रयोग को सफल बना सकते हैं ।[3] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रमातृगत ऐन्द्रियानुभूति की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न होती है । कोई श्राव्य, कोई दृश्य और कोई गत्युद्वोधक बिम्बों के ग्रहण में समर्थ होता है । अतः समान्यतः किसी मानक सौंदर्यबोध की परिकल्पना प्रस्तुत नहीं की जा सकती[4] ।

---

१. सुकुमारता हि वैमल्यापरपर्याया सहृदयत्वं हृदयस्य हि कविहृदय तादात्म्यापत्ति योग्यतैव उत्कर्षः (अभिनवभारती भाग २, पृ० ३३९)

२. The ego unconsciously supposes itself at one with the object, and there is no longer any duality. Empathy simply means the disappearance of the two fold consciousness of self and object,

(Empathy and Abstraction, Introductory Note, A Modern Book of Esthetics, Melvin Rader P. 369)

३. क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेश्याः, विगतरागद्वेषाः, मध्यस्थवृत्तयो निर्मलहृदयमुकुरे सति तन्मयीभवनयोग्यतोपेता आहितरसास्वादाः सामाजिकाः । (नाट्यशास्त्रम्, भाग-१ अभिनवभारती, पृ० १६)

४. Some readers have a virtual painting in their heads as they read the words 'a pair of ragged claws, scuttling

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अभिनव का आशय संभवतः प्रमाता में कल्पना, विचार एवं अनुभूति के उपयुक्त सामंजस्य की आदर्श प्रकल्पना के मूर्त करने से है। काव्य-बोध की यह अनिवार्यता है, किन्तु इसका अतिरिक्त आग्रह अप्रासंगिक है। आदर्श बिम्ब के प्रति आग्रहशील हो कर भी अभिनव सहृदय की विविध कोटियों की उपेक्षा नहीं करते। वे उनके तारतम्य के परिप्रेक्ष्य में भावयित्री प्रतिभा के अनेक कोणों को भी सजगता से उद्भावित करते हैं। उदाहरण के लिए मुक्तक में कल्पना-शक्ति की प्रौढ़ता विशेष अपेक्षित है। उसमें विभाव एवं अनुभाव योजना की एकदेशीयता को प्रसंगादि की उद्भावना के द्वारा पूर्ण बना कर अनुभूति का विषय बनाना विशेष कल्पना एवं काव्यानुशीलन की अभ्यासजन्य सहृदयता की अपेक्षा रखता है।[1] आदर्श प्रमाता प्राक्तन संस्कारों के बल पर सीमित विभावों में भी काव्यार्थ का सहज ही साक्षात्कार कर सकता है, किन्तु नाट्य में भी उनकी सहृदयता परिष्कृत और प्रखर हो कर नाट्यानुभूति को और भी गंभीर स्तर पर ग्रहण करती है। नाटक में आस्वाद का माध्यम चतुर्विध अभिनय है, किन्तु काव्य में सहृदय को कवि की अभिव्यंजना-कौशल का ही आधार रहता है।

सामान्य अर्थबोध की अपेक्षा काव्यात्मक प्रतीति के वैशिष्ट्य का आधार शब्दार्थ में निहित गुणालंकार का उचित संनिवेश है, जिसे भट्टनायक ने भावगत व्यापार का अंग तथा अभिनव ने व्यंजकत्व व्यापार की इतिकर्तव्यता कहा है।[2] दोनों ही स्थितियों में भावक इन्हीं के माध्यम से काव्य रसों की

---

across the floors of silent seas, others are most acutely aware of the sounds. Still others experience chiefly a kinesthetic scuttling. Probably no two readers experience the rhythms, sounds, and images of a poem in precisely the same proportions.
(Walter J. Slatoff, With Respect to Readers, London-1970 P. 32)

१. तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य ईदृगत्र वक्ताऽस्मिन्नवसरे इत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते।
(ना० शा० भाग-१ पृ २८७)

२. तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमित-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भावन अथवा साधारणीकरण करता है। किन्तु अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत, व्युत्पन्न एवं समृद्ध-कल्पनाप्रवण प्रमाता गुणालंकारमनोहर शब्दार्थ वाले काव्य में विशेष हृदय-संवाद एवं तन्मयता का अनुभव करते हैं[1]। उनकी भी नाटक में सहृदयता कम प्रखरता से अभिव्यक्त नहीं होती[2]। इस संदर्भ में द्रष्टव्य यह है कि अभिनव की काव्य एवं दर्शन से संस्कृत रुचि आदर्श प्रमाता के प्रतिमान से ही विविध प्रमातृगत आस्वाद स्तरों का व्याख्यान एवं मूल्यांकन करती है। प्राक्तन पुण्य जैसे शब्दों के प्रयोग से अभिनव रसास्वाद को जहाँ आध्यात्मिक अतीन्द्रिय स्तर पर प्रतिष्ठित करते हैं, वहाँ अवर कोटि के प्रमाताओं के मानसिक स्तर का भी सजगता से विश्लेषण करते हैं। अवर कोटि के प्रमाताओं की दूषित प्रवृत्तियों का भी नाट्य-दर्शन से विरेचन हो जाता है। गणिका आदि के गीत उनके अन्तःकरण को निर्मल बनाने के साधन होते हैं।[3] यह साधारणीकरण की अत्यन्त व्यापक व्याख्या है, जिसमें काव्योपकरण ही नहीं, नटादि सामग्री की देशकालातीत योजना अवर कोटि के प्रमाताओं की वासना-शुद्धि का माध्यम बनती है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि अभिनव ने प्रमाता एवं नटी (गणिका) के मानसिक अन्तराल की विविध कोटियों को मध्ययुगीन परिवेश में अत्यन्त सजगता से परखा है। उच्चकोटि के प्रमाता में नट अथवा नटीत्व विषयक तथा राम अथवा सीता विषयक बुद्धि का स्थगन होने से कालातीत अनुभूति शीघ्रता से उद्बुद्ध होती है, जबकि अवर कोटि के प्रमाता में तद्विषयक बुद्धि की विश्रान्ति इतनी

विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। (वही)

१. तस्माद्व्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावान् रसानुभावयति। (लोचन पृ० १८७)

२. काव्ये तु गुणालंकारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्रमाणकेहृदयसंवादवशात् निमग्नाकारिका तावद्भावति चित्तवृत्तिः।
तेषामपि तु नाट्यम् निपतिता स्फुरिता शशिरश्मयः इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। (नाट्यशास्त्रम्, भाग-१ पृ० २८७)

३. अहृदयानां च तदेव नैर्मल्याधायि। यत्र पतिता गीतवाद्यगणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्।
(नाट्यशास्त्र, पृ० २८७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अविलम्ब नहीं होती। गणिका के गणिकात्व के विस्मरण में पूर्वाग्रह बाधक होते हैं। सत्त्व पर आश्रित अभिनय की चारुता पुरुषों के हृदय को हरण करने वाली राग-शून्य वेश्याओं में कहाँ ?

'चेतोवशिता सत्त्वं सत्त्वे सति चारुता प्रयोगस्य।
न भवति सा वेश्यानामल्पापि पुरुषहृतहृदयानाम्' ॥[1]

रत्नावली की भूमिका में गणिका मालती अवर कोटि के दर्शकों को काममुग्ध ही अधिक करती है। उनकी वासनाओं को उदात्तीकृत नहीं।

रूपं यौवनचित्रितमनंगविकृतानि नाट्यदीप्तानि।
शमिनामपि शमगर्वमुष्णन्त्यविकल्पितम् तस्याः ॥[2]

वस्तुत. प्रारम्भ में अवर कोटि के प्रमाता की मानसिकता 'इन विलासिनियों ने खूब क्रीड़ा की' जैसी छिछली भूमिका पर ही होती है, किन्तु क्रमशः नाट्यवस्तु में तदाकार हो कर प्रमाता आत्म-विस्मृत होता जाता है।[3]

अभिनव की सहृदयता प्रतिभा की व्याख्या भरत के सुमनस् प्रेक्षक की यथार्थवादी दृष्टि का आध्यात्मिक आदर्शीकरण है, जिसमें भावना पक्ष का भट्टनायक की अपेक्षा अधिक विस्तार लक्षित होता है। मानसी साक्षात्कारात्मिका शक्ति तथा विमल प्रतिभानशलित्व इत्यादी संदर्भ सहृदय को अतिरिक्त भावना-प्रवण, विवेक-सम्पन्न आध्यात्मिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करते हैं। सहृदय में हृदय-संवाद तन्मयी भवन, की क्षमता तभी आ सकती है जब वह मुकुर के समान विमल और विशद हृदय का अधिकारी हो। इसी के आधार पर काव्य अथवा नाट्य के साक्षात्कार के क्षण में अपने संकुचित स्व से मुक्त होकर कविगत अनुभूति तथा विभावादि के साथ एकात्म्य होता है। सहृदय के रूप में अभिनव न वैश्व, सार्वभौम अवधारणा का आश्रय लिया है, जिसमें पाश तथा आणव मलों से मुक्त हो कर संकुचित जीवतत्व शिवतत्व में तद्रूप होकर विशदता को प्राप्त करता है। मनोमुकुर की उपमा अभिनव ने इसी शैव सिद्धान्त से ग्रहण की है, जिसका अन्यत्र विवेचन किया गया है।

---

१. कुट्टनीमतम्, ८९७, पृ० १८८
२. वही, ९९९, पृ २०५
३. शृङ्गाररससमुद्रे सोत्कलिकं निपतिते। (वही)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सहृदय की देशकालातीत स्थिति तथा स्व-पर की सम्बन्ध मुक्ति भी मूलतः प्रमाता के अन्तश्चैतन्य का प्रतीकात्मक आदर्शीकरण है, जिसमें भट्टनायक के सहृदय की भोग-बुद्धि को स्थूल संदर्भ से हटा कर अमूर्तीकृत किया गया है। उनका सहृदय मूलतः एक विशिष्ट प्रेक्षक नहीं है, अपितु देशकालातीत स्थिति एवं वैश्वभाव का प्रतिदर्श है, जिसमें भावयित्री प्रतिभा के सभी मौलिक प्रतिमानों का अन्तर्भाव है। काव्यानुशीलनाभ्यास तथा प्रतिभा के केन्द्र में अभिनव ने तन्मयीभवनयोग्यता को प्रतिष्ठित किया है। तन्मयीभवन से ही वे हृदय-संवाद की मनोवैज्ञानिक भूमिका की ओर अन्तःप्रयाण करते हैं तथा अनादि-वासना संवाद की मिथकीय मनोभूमिका का पूर्वाभास देते हैं। अनादि-वासनाएँ मानव मात्र को वैश्व बुद्धि से अन्वित करती है तथा कलात्मक अभिव्यंजनाओं से उनकी उद्‌वुद्धि कवि तथा सहृदय तथा सामष्टिक स्तर पर सहृदयों के बीच संवाद उत्पन्न करती है, जिससे प्रमाता स्व संकुचित भूमि से मुक्त होते हैं। हृदय-संवाद को अभिनव ने सहृदयत्व की प्रधान भूमिका के रूप में परिभाषित किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अवर कोटि के प्रमाताओं को सहृदयता के वृत्त में प्रतिष्ठित कर उन्होंने परवर्ती आस्वादक के रसिक व्यक्तित्व की भूमिका की ओर भी संकेत किया है, जिसका मध्युगीन सामन्तीय वातावरण में क्रमशः विकास हुआ है।

वासना-संवाद एवं साधारणीकरण

साधारणीकरण में कवि और सहृदय का हृदय-संवाद तथा प्रमातृ मात्र का हृदय-संवाद जन्मानुबन्धि अनादि वासना के सिद्धान्त पर आधृत है। अभिनव का कथन है कि नाट्य अथवा काव्य के साक्षात्कार के क्षण में सभी सामाजिकों को एक साथ मिश्रित किन्तु अभिन्न प्रतीति होती है। रस बोध के चरम परिपाक के लिए यह स्थिति अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि अनादि वासना से अनुरंजित समाजिकों में जब वासना संवाद स्थापित हो जाता है[1] तो रसानुभूति का क्षेत्र अन्तःप्रतिबिम्बित होकर अत्यन्त विशद एवं व्यापक हो जाता है। सामष्टिक चेतना में रसानुभूति की सघनता एवं एकघनता की प्रतीति के कारण एवं स्वरूप पर अन्यत्र विचार किया गया

१. अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तेः सुतरां रसपरिपोषाय, सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्।
(नाट्यशास्त्रम्, भाग-१ बड़ौदा पृ० २७९)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

है। यहाँ वैज्ञानिक परिदृष्टि के नव्यालोक में वासना संवाद की अवधारणा का प्रत्यवलोकन अपेक्षित है।

शाकुन्तलम् में दुष्यन्त हंसपादिका के सुदूरागत वीणा के स्वरों को सुन कर अकस्मात् उत्कण्ठित हो उठता है। इस संदर्भ में कालिदास का कथन है कि रमणीय वस्तुओं को देख कर अथवा मधुर शब्दों को सुनकर यदि सुखी प्राणी भी पर्युत्सुक अथवा उत्कण्ठित हो जाता है तो वह निःसन्देह अनजाने ही वासनारूप में स्थिर दूसरे जन्म के सौहार्द का स्मरण करता है।[1] इस उक्ति में अबोधपूर्वं, भावस्थिराणि तथा जननान्तर-सौहृदानि विषयक संदर्भ भारतीय आस्था के बाहर भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तन की ओर इंगित करते हैं। अबोधपूर्वा स्मृति फ्रायडीय अवचेतन की अवधारणा को पुष्ट करती है। फ्रायड के अनुसार अचेतन मन द्वारा चेतन मन की संवेगात्मक तथा बौद्धिक क्रियाओं का संचालन होता है। फ्रायड ने अवचेतन की तुलना उस हिम-पिण्ड से की है, जिसका छोटा-सा अंश जल की सतह से ऊपर है, किन्तु अधिकांश जल के नीचे है। जुंग ने अवचेतन मन को सामूहिक अवचेतन के अंश के रूप में परिभाषित किया है। कहने का आशय यह है कि अबोधपूर्वा स्मृति मानव मात्र के अज्ञात संस्कारों का वह कोष है, जिसमें विशिष्ट वस्तुओं के वैशिष्ट्य का तिरोधान हो जाता है तथा उनकी निर्विशेष स्मृति शेष रहती है[2] जो सौंदर्यमूलक वस्तु के साक्षात्कार से उद्‌बुद्ध हो उठती है। अभिनव के अनुसार यह स्मृति किसी लौकिक पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण की बोधक नहीं है, अपितु यह स्मृति प्रतिमान का दूसरा पर्याय है, जो मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति है।[3] सम्भवत: अभिनव का तात्पर्य यह है कि प्रतिभा अननुभूत वस्तुओं को भी जन्मानुबन्धि संस्कारों के आधार पर साक्षात्कृत करती है। ये संस्कार मानव

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५/२, (काले, बम्बई-१९२०, पृ० ११५)

२. अबोधपूर्वं विषयविशेषज्ञानाभावपूर्वं चेतसा स्मरति।

(राघवभट्ट-अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ० ११५)

तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी, न मिथ्या, नानिर्वाच्या, न लौकिकतुल्या, न तदारोपादिरूपा।

(ना० शा० (बड़ौदा) पृ० २८०)

३. वही, पृ० वही।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मात्र में भावरूप में बद्धमूल रहते हैं और अनुकूल उत्तेजना पाते ही उद्बुद्ध हो उठते हैं। अभिनव के अनुसार जीव इन संस्कारों से आबद्ध ही संसार में जन्म ग्रहण करता है।[1] अतः शीघ्र ही वह इन अनुभूतियों के अनुरूप अनुक्रियाएँ करने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति रमणेच्छा से युक्त होता है। वह अपने उत्कर्ष का अभिमानी, दूसरे का उपहास करने वाला, अभीष्ट वस्तु के वियोग से संतप्त और उसके प्रेरक कारणों के प्रति क्रोध युक्त होता है। किन्तु सामर्थ्य के अभाव में वह उन प्रेरक हेतुओं से भयभीत भी रहता है। अर्जन की इच्छा रखता हुआ भी अनुचित वस्तुओं से विमुख हो कर उन्हें अनभीष्ट मानता है। वह अलौकिक कार्यों को देख कर विस्मित होता है। तथा कभी-कभी त्याग की इच्छा भी उसके मन में जागृत होती है।[2]

मानव के ये आचरण ही उसके अन्तःकरण में बद्धमूल रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, विस्मय तथा निर्वेदमूलक संस्कारों का आभास देते हैं। भावस्थिराणि की व्याख्या टीकाकारों ने वासना संस्कार के स्तर पर ही की है। 'नूनं निश्चितं तद्भावैर्वासनाभिः स्थिराणि निश्चलानि'[3] भावेन वासनया, संस्कारेण इत्यर्थः, स्थिराणि दृढ़तरसंस्कारविषयान्'[4]। कहने का आशय यह है कि मानव हृदय अतीत के संस्कारों का समुच्चय है। उसके अतल में विविध वासनाओं की स्थिति है जो मानव मात्र को एक अन्तःसूत्र में आबद्ध करती हैं। यह बात भिन्न है कि किसी में कोई वासना प्रखर हो और किसी में क्षीण, किसी की चित्तवृत्ति औचित्य से नियंत्रित होती है तो किसी की अनुचित दिशा में भी प्रवृत्त हो सकती है। कवि और सहृदय का हृदय-संवाद अनादि वासना के इसी सिद्धान्त पर आधृत है। अतः वैज्ञानिक अवधारणाओं के आलोक में इस पर पुनर्विचार अपेक्षित है। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक है कि भारतीय चिन्तन जिन मिथकीय अवधारणाओं में पोषित हुआ है, वे समग्र सृष्टि के मूल कारण की सहजात एकता

१. स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भः परीतो भवति। पृ० २८२

२. वही, पृ० २८२

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, राघवभट्ट, पृ० ११५

४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता (१९१४) पृ० २३६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की ओर इंगित करती हैं। समग्र संसार एक ही सिसृक्षा[1] का परिणाम है। कुमारसंभव में कालिदास ने इसी सामष्टिक चैतन्य धारा का स्तवन करते हुए कहा है कि सृष्टि के पूर्व एक ही शक्ति मात्र चैतन्य रूप में विद्यमान रहती है।[2] अतः सृष्टि के सौंदर्य-बोध में विश्वात्मा की सर्जनेच्छा एक ऐसे विश्वव्यापक लालित्य के प्रवाह के रूप में अभिव्यक्त हो रही है कि मानव का अन्तश्चैतन्य उसे समान भाव से ग्रहण करने के लिए अज्ञात रूप से पर्युत्सुक हो उठता है।

सामाजिकों में एकघनता एवं वासना-संवाद

काव्यास्वाद में व्यक्तिशः आनन्द, समष्टिगत नाट्य-प्रेक्षण तथा काव्य-श्रवणजन्य तन्मयता की निजी पृथक् मनोभूमिकाएँ हैं। उनमें प्रकृतिगत अंतर है। प्रेक्षकों के समूह में नाट्य-वस्तु के प्रत्यक्षीकरण तथा व्यक्तिगत काव्य-पाठ में मूलभूत अन्तर तो यही है कि काव्य की पठन-क्रिया के क्षण में पाठक एकाकी होता है। उसकी तात्कालिक अनुभूति एवं संवेदना व्यक्ति-मानस में घटित होती हैं। अनुभूति की इस एकाकी संवेदना का क्षण मूलतः आत्म-साक्षात्कार का क्षण होता है[3] जिसमें पाठक किसी गहन अन्तरंगता की अनुभूति का एकाकी भोक्ता होता है। किसी गोपनीय नग्नता के एकाकी द्रष्टा का बोध उसे विलक्षण आह्लाद एवं उद्दीपन प्रदान करता है।[4]

१. स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ॥
—कुमार संभव २/७, पृ० २५६
(कालिदास ग्रन्थावली, संपादक—रामप्रताप त्रिपाठी)

२. नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे॥
(कुमारसभव २/४, पृ० २५८, कालिदास-ग्रन्थावली)

३. Not only is the act personal, but one has the sense that it is, and draws satisfaction in part because, unlike most of our activities, it is personal, a kind of being with one-self, albeit in a peculiarly rich and exciting way.
(Walter J. Slatoff 'With Respect to Readers p. 30)

४. One is alone, yet in intimate relationship with something else. (Ibid)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

यह अनुभूति प्रच्छन्न तो होती ही है, सहज सम्प्रेषणीय भी नहीं होती। तद्विपरीत नाट्य-प्रेक्षण में पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के विगलन के अनन्तर एक सामाजिक चैतन्य का आविर्भाव होता है। प्रेक्षण के क्षण में व्यक्तित्व की सीमाएं तिरोहित हो जाती हैं एवं एक समष्टि-भाव जन्म लेता है।

अभिनव के अनुसार नृत्य गीत आदि के सामूहिक क्षण में सामाजिक सुधा-सागर के समान आत्म-विस्तारगत आह्लाद प्राप्त करता है। इसमें प्रमाता को तादात्म्य का पूर्ण अनुभव प्राप्त होता है। अपने एकाकी प्रेक्षण से परितुष्ट न होकर वह ऐसा अनुभव करता है कि इस व्यापक अनुभव-खण्ड का मैं एकाकी भोक्ता नहीं हूँ, अन्य सामाजिक भी यह दृश्य देख रहे हैं। यह अनुभूति प्रत्यक्षीकृत नाट्य-वस्तु से प्रेरित होकर शुष्क स्थिति से भिन्न अन्य रूप में ही परिणत हो जाती है।

'तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते॥
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम्'
तावन्मात्रार्थसंवित्तितुष्टाः प्रत्येकशो यदि।
कः सम्भूय गुणस्तेषां प्रमात्रैक्यं भवेच्च किम्॥
यदा तु तत्तद्वेद्यत्वधर्मसन्दर्भगर्भितम्।
यद्वस्तु शुष्कात् प्राग् रूपादन्ययुक्तमिदं तदा।'[1]

जयरथ ने इस समष्टिगत अनुभूति को विश्लेषित करते हुए कहा है कि सामाजिकों की अनुभूतियों में एक ऐसी अन्विति उत्पन्न हो जाती है कि एक प्रमाता की अनुभूति अनेक प्रमाताओं की अनुभूति बन जाती है। 'एकैकप्रमातृवेद्याद्विनृत्तादेरनेकप्रमातृवेद्यस्यास्यास्त्येव।'[2] श्रीप्रत्यभिज्ञा में प्रमेय अंश में प्रमाताओं की संवेदना के ऐक्य का विवेचन इस प्रकार हुआ है 'तं तं घटादिमर्थमेकदेशव्यवस्थिताः प्रमातारः समं संवेद्यमानास्तावत्यंशे तदैक्यमुपयान्ति।'[3] जयरथ के अनुसार इस अनुभूति में ज्ञान के सभी इतर विषयों का बोध विगलित हो जाता है तथा अन्य कोई आकांक्षा शेष नहीं

१. तन्त्रालोक (कश्मीर, १९२४) सप्तम भागः ११/८५-८८ पृ० ६६-६९
२. वही, पृ० ६८
३. वही, पृ० वही

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रहती। 'पूर्णरूपेति इयदेव हि पूर्णं रूपं यद्विगलितवेद्यान्तरतया तत्रैवानन्याकांक्षत्वेन परामर्शनं नामेति।'[1]

वस्तुतः इस संविन्मय अनुभूति में संविद् की एकता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि शिव स्वरूप मानव मात्र में एक ही संविद् (चैतन्य) प्रवाहित है। अतः रसानुभूति में सभी सामाजिक विगलित-वेद्यान्तर हो कर नाट्-वस्तु में तन्मय हो जाते हैं। इस संदर्भ में जयरथ का प्रश्न है कि यदि इतने अर्थ से ही प्रेक्षकों को संतोष होता कि अन्य लोग भी यह दृश्य देख रहे हैं तो प्रमाताओं के ऐकात्म्य का लाभ क्या है? इसका उत्तर यह है कि जब एक ही वस्तु में अनेक वेद्यताओं का आभास होता है तो प्रमाताओं की वेद्यजनित पृथक्-पृथक् अनुभूति एक ही अनुभूति में परिणत हो जाती है। आत्मविश्रान्ति में परामर्श के द्वारा प्रमाताओं की अनुभूति क्रमशः परस्पर सम्पृक्त हो कर अन्तर्प्रतिविम्वित आनन्द में पर्यवसित हो जाती है।[2]

अन्तर्प्रतिविम्व का यह सिद्धान्त सामष्टिक रस प्रतीति को एक भिन्न स्तर पर भी परिभाषित करता है। प्रत्येक प्रमाता अपनी भौतिक एवं दैहिक सीमाओं में आवद्ध होने के कारण अनुभूति को वैयक्तिक स्तर पर ग्रहण करता है। अतः उसमें व्यक्तिगत रागद्वेष के अनुषंग भी समाहित हो जाते हैं। किन्तु समूह का अंग वन कर, अपनी व्यक्तिगत सीमा से ऊपर उठ कर वह आनन्दानुभूति को गुणात्मक स्तर पर एक भिन्न एवं उच्चतर धरातल पर ग्रहण करता है। एक व्यक्ति की संविद् अन्य व्यक्तियों की संवितों से प्रतिविम्वित हो कर अनेक आयामी वन जाती है।[3] दर्पण जैसे विम्वित-प्रतिविम्वित हो कर एक विम्व को अनेक आयामी बना देते हैं उसी

---

१. वही, पृ० ६७-६८

२. एकस्मिन् हि वस्तुन्यनेकवेद्यतावभास एव स्वात्मविश्रान्तिमयपरामर्शापारोहक्रमेण विगलितभेदतया प्रमातॄणामैक्योपगमे वीजं यत एवंविधानन्दसन्दोहपात्रतापि भवेत्।

(तन्त्रालोके दशमाह्निकम् ८७ की वृत्ति, पृ० ६८)

३. इह सर्वात्मकत्वऽपि या संविद्देहभेदात् संकोचप्राप्ता, सा मेलके सति अन्योन्यस्य संघट्टेन प्रतिबिम्वात्परस्परं प्रतिसंक्रमणेन विकस्वरा संकोचापहस्तनेन पूर्णा भवतीत्यर्थः।

(तन्त्रालोके अष्टाविंशमाह्निकम्, पृ० १५८)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रकार काव्य-भूमि में भी एक ही अनुभूति अन्य प्रमाताओं की संवादी अनुभूतियों से युक्त हो कर प्रतिबन्धक कारणों से निर्विघ्न एवं तदाकार हो जाती है।[१] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक दर्शक के मन में गोपनीय रहस्य के साक्षात्कार की आनन्दानुभूति के क्षण में स्वयं को परोक्ष रूप से देखे जाने की प्रच्छन्न आकांक्षा निहित रहती है। प्रत्येक दर्शक परोक्षतः अभिनेता की ही भूमिका में होता है तथा आनन्दानुभूति के क्षण में इतर दर्शकों से साक्षात्कृत किए जाने की परिकल्पना से उद्दीप्त हो कर वह विम्बित-प्रतिबिम्बित भाव से अपने संविद् को अधिकाधिक तीव्र करता जाता है।[२] समाज में व्यक्ति अपनी नग्नता को गुप्त रखता है। रंगमंच इस गोपनीयता से मुक्ति देता है।[३] साथ ही आत्म-प्रदर्शन का अनुचित भय भी यहाँ बाधक नहीं होता। अभिनव के अनुसार यही देह भेद से संकुचित सर्वात्मिका संविद् का विस्तार है। इस सामष्टिक क्षण में परस्पर संघटित एवं विम्बित-प्रतिबिम्बित चेतना अनेक दर्पणों में दीप्त सूर्यरश्मि के समान दीप्ततर हो कर अनेक प्रमातृ चेतनाओं का तन्मयीभवन कराती है। 'बहिः प्रसरन्निन्द्रियमरीचिपुंज तास्वेव अनेकदर्पणप्रख्यासु···संवित्सु प्रतिबिम्बित-त्वात् दीप्तः'।

आधुनिक मनोविज्ञान अन्तःप्रतिविम्बन सिद्धान्त का एक भिन्न प्रकार से भी समर्थन करता है। समष्टिक अनुभूति में निर्देशन, अनुकरण एवं सह-अनुभूति की संवद्ध प्रक्रिया गतिशील रहती है, जो अवचेतना स्तर पर

---

१. उच्छलन्निजरश्म्यौघः संवित्सु प्रतिविम्बितः।
वहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वायेताप्ययत्नतः ।
संवित्सु प्रतिविम्बितत्वात् दीप्तः सर्वतो विकासमासादयन् यत्नं
विनापि सर्वायित सर्वाकारतं यायादित्यर्थः। (वही, पृ० १५६)

२. That very Histronic object the mirror enables any actor to which himself and thereby to become C, the audience. And the mirror on the wall is only one and the mind are many.
(Eric Bentley 'The life of the drama' p. 150)

३. One of the archetypal acts of the theatre is to remove this concealment.
(Ibid p. 151)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्यक्तियों की अन्तःक्रिया के रूप में घटित होती रहती है। निर्देश के मूल में कोई तार्किक अनिवार्यता नहीं होती। प्रेक्षक सम्मिलित भावधारा में अज्ञात रूप में सम्प्रेष्य-वस्तु और अनुभूति के प्रति तदाकार अनुक्रिया करता चलता है। इसका कारण है मानव की सहजात, सामूहिक मनस्कता। व्यक्ति-मानस का विकास समाज के व्यक्तियों के अन्तःप्रतिविम्वन अर्थात् उनकी परस्पर अन्तःक्रिया से ही प्रेरित होता है। व्यक्ति मानस के निर्माण के मूल में युग-युगान्तर की मानव चेतना की विकास-प्रक्रिया के बीजाणु विद्यमान हैं।[1] यही कारण है कि एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक क्षण में प्रेक्षकों में तदाकारता उत्पन्न होती है। आनन्दनिर्भरा संवित्प्रत्येकं सा तथैकताम्।' संवेदना का एक अन्तःसूत्र प्रमाता की चेतना को सहज ही अन्तः संयोजित कर देता है। एक प्रमाता के संवेगात्मक प्रभाव की रश्मियाँ दूसरे प्रमाता की संवेगात्मकता से अनुरंजित हो कर गहन एवं प्रखर हो उठती हैं।[2]

अभिनव ने विततसाधारण्यं की अवधारणा को समष्टि चेतना के जिस व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया है, उसका एक कोण वासना-संवाद, तथा सव सामाजिकों की एक-घन प्रतिपत्ति से अन्वित हो कर सामूहिक रसभोग को संदर्भित करता है। अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयेव प्रतिपत्तिः सुतरां रस परिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्।[3]

---

१. ...the products of an immensely long course of evolution, conditions which have been produced by the mental activities of countless generations.
(W. MC Dougall 'The Group Mind' Cambridge-1920 p. 6)

२. ...such telepathic interaction might well play a very important part in collective mental life, and, where a large number of persons is congregated, it might tend to produce that intensification of emotion ... for the emotion of each member might be expected to be intensified by the telepathic influence radiating from every other member.
(W. MC Dougall 'Cambridge-1920, p. 28-29)

३. नाट्यशास्त्रम् भाग-१, पृ० २७९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

स्पष्टतः एकघनता एवं वासना-संवाद नाट्यानुभूति के समष्टिपरक आस्वाद अथवा प्रेक्षण के अनिवार्य तत्त्व हैं। द्रष्टव्य यह है कि नाट्य-प्रसगों के विसंगत एवं जटिल समीकरणों की व्याख्या में ये तत्त्व कितना योग देते हैं? विशेषतः उन संदर्भो में सामष्टिक अनुभूति का क्या स्वरूप होता है, जिनमें तन्मयी भवन की अपेक्षा प्रेक्षक से एक विशेष निर्णय पर पहुँचने की अपेक्षा की जाती है। यहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य प्रसंग गौण पड़ जाते हैं तथा प्रतिनिधानात्मकता के कारण दर्शकों एवं मंच का अन्तराल अधिक प्रखर हो जाता है।[1] अश्वत्थामा की निम्नलिखित उक्ति[2] से यदि प्रमाता एक स्तर पर स्वयं को सम्बद्ध अनुभव करता है, तो दूसरे स्तर पर गर्भशय्यां गतो वा की ममत्वहीन बुद्धि की आभ्यंतर उत्तेजना से असम्पृक्त हो कर अश्वत्थामा की विनष्ट मानसिक शान्ति तथा उसके पीड़ित मन की स्थिरता के द्वन्द्व का निःसंग भाव से प्रत्यवलोकन भी करता है। प्रमाता की निःसंगता विडम्बना के प्रभाव को तीव्र करती है।[3] अभिनव के स्तर पर इस विडम्बनापरक निःसंगता का समाधान यह है कि ये तीनों अभिवृत्तियाँ अन्तःप्रतिबिम्बित हो कर सामष्टिक संवेदना को तीव्रतर करती है। 'अन्योन्यसंघट्टप्रतिबिम्बाद्धिकस्वरा।' वस्तुतः ऐसे दृश्य समप्रभावी अनुभूति भले ही न जगाएँ, किन्तु क्रूरता के संवेग से प्रमाता को विरेचनपरक मुक्ति का आस्वाद अवश्य देते हैं। अतः क्रूरता को नाटकीय प्रतिपाद्य के केन्द्र में स्थापित करने वाले पाश्चात्य नाटककार आर्तोद का कथन है कि अभिनेता एवं दर्शक एक जुट हो कर जैसे इस व्याख्येय वैश्विक क्रूरता का अपनी अन्तश्चेतना से प्रतिरोध करते हैं।[4] भीति और

---

१. Insentification is discouraged, Empathy is forbidden, a more presentational style of acting increases the distance between audience and stage.
(The theatre of rovolt, p. 259)

२. ···यो यः पांचालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
·· क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥
(वे०सं० ३/३२, पृ० ८७)

३. विषमव्यथाकश्मलशिथिलमश्वत्थाम्नः स्थेमानं प्रतिज्ञापयति।
(औचित्यविचार-चर्चा, अलीगढ़, सम्पादक—डा० मनोहरलाल गौड़, पृ० २३)

४. ...An attitude on the part of actors and audience that

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रतिरोध की आवेगमय समाहिति उन्हें एक सूत्र में बाँधती हैं। वेणीसंहार में यह क्रूरता दोनों स्तरों पर सक्रिय दिखाई गई है। निःशस्त्र द्रोण का वध तथा गर्भशय्यागत शिशुओं की हत्या एक ही क्रूरता के दो पार्श्व हैं। अश्वत्थामा यदि प्रमाता की सहानुभूति अर्जित करता है, तो क्रूरता के प्रतिरोध के प्रथम स्तर पर और यदि प्रेक्षक की सहानुभूति खोता है, तो भी इसी कारण कि प्रेक्षक इस द्वितीय क्रूरता का भी प्रतिरोध चाहता है। आतंक एवं प्रतिरोध के ये विविध आयाम अतःप्रतिविम्बित हो कर प्रेक्षकों की अभिवृत्तियों को अन्तःसंयोजित कर नाट्य-प्रभाव को तीव्रतर कर देतेहैं। इस स्तर पर यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेक्षक जहाँ उस प्रभाव के प्रति समर्पण करता है, वहाँ एक स्तर पर अन्तर्विभक्त भी रहता है।

'अत एव यदा येन वपुषा भाति यद्यथा।
तदा तथा तत्तद्रूपमित्येषोपनिषत्परा ॥'
(तन्त्रालोक १०/८२)

रसविघ्न (और साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका)

अभिनव ने रसनात्मक प्रतीति को वीतविघ्न प्रतीति कहा है। "सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः"।[1] इस संदर्भ में उन्होंने काव्यास्वाद की बाधक निषेधपरक प्रतीतियों का विवेकसम्मत मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। काव्यागत अनुभूति को लौकिक स्तर पर ग्रहण करने के कारण प्रायः प्रमाता रसास्वाद की साधारणीकृत भूमिका से वंचित रह जाता है। इसका आंशिक उत्तरदायित्व कवि द्वारा काव्यार्थ की अपूर्ण अथवा त्रुटिपूर्ण प्रस्तुति एवं विभावादि की दोषपूर्ण योजना पर भी है। जहाँ प्रस्तुत भाव के प्रतिरूप विभाव-योजना अशक्त अथवा स्फीत हो वहाँ काव्य के सारभूत प्रभाव के विशृंखल होने से प्रमाता की रसानुभूति व्याहत होती है। अतः अभिनव का कथन है कि विभावों की योजना विघ्नों की अपसारक होती है। 'तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः।'[2] इलियट भी दोषपूर्ण विभाव

---

simultaneously inspire awe and defiance,
(George Wellworth 'New York-1971 'The Theatre of protest', p. 20)

१. नाट्यशास्त्रम्, बड़ौदा-१९५६, पृ० २८०

२. -वही-

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

योजना को सम्यक् रसानुभूति में बाधक मान कर काव्य की व्यापार शृंखला के सुनियोजित औचित्य की ओर इंगित करते है।[१] अभिनव ने इस संदर्भ में सात विघ्न प्रतीतियों का विवेचन किया है, जिनका आधुनिक समीक्षा संदर्भ में भी मनोवैज्ञानिक तथा सौंदर्यशास्त्रपरक औचित्य निर्विवाद है। 'विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तावयोग्यता-संभावनाविरहो नाम स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यं स्फुटत्वाभावो अप्रधानता संशययोगश्च।'[२]

सम्भावनाविरह

यदि काव्य-वस्तु प्रमाता को अपनी संभावना के प्रति आश्वस्त नहीं कर पाती तो प्रमाता की चित्तवृत्ति उसमें अन्तर्लीन नहीं हो सकेगी। वह संवेद्य वस्तु को अयथार्थ अथवा असंभव समझ कर उस विषय में अपने संविद् को सुनिश्चित नहीं बना सकेगी।[३] अरस्तु ने भी काव्यास्वाद में संभवनीयता और आवश्यकता के नियमों को कवि के कर्तव्य-कर्म के अन्तर्गत विवेचित किया है। किसी विशिष्ट अवसर पर कोई व्यक्ति कैसे आचरण करेगा, विशिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से इसी सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का उद्देश्य है। अरस्तु का कथन है कि मानव-जीवन के विधान में, जिसकी संभावना रहती है, वह वस्तु-सत्य की अपेक्षा देशकालातीत व्यापक एवं सार्वभौम भव्यतर काव्य-सत्य होता है।[४]

संभावना-विरह के दो ध्रुवान्त हैं—एक स्तर पर यदि कवि काव्य-वस्तु को अविश्वसनीय एवं असंभावित संदर्भों से मुक्त रखता है तो दूसरे स्तर पर उसे विश्वसनीय रूप में ग्रहण करने के लिए प्रमाता में भी एक विशिष्ट मानसिकता अपेक्षित है। यह मानसिकता काव्य-रूढ़ियों, कविसमयों तथा

---

१. The artistic 'inevitability' lies in this complete adequacy ot the external to the emotion; —T. S. Eliot (The Sacred Wood, 1953, p. 101)

२. नाट्यशास्त्रम्, पृ० २८०

३. संवेद्यमसम्भावयमानः संवेद्य संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति। (वही, पृ० वही)

४. अरस्तु का काव्य-शास्त्र, सं० २०२३, पृ० २६, ६७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

युगीन आवश्यकताओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों के परिज्ञान तथा वस्तु एवं नेता के अलौकिक कृत्यों के प्रति आस्था से निर्मित होता है। वस्तुतः प्रस्तुत वस्तु को संवेद्य मानकर ही प्रमाता अपने संविद् का उसमें अन्तःप्रवेश करा सकता है। लोक-सामान्य वस्तु के विषय में प्रायः प्रमाताओं का हृदय-संवाद सहज ही हो जाता है, किन्तु लोकोत्तर अथवा अलोकसामान्य वस्तु के द्वारा प्रसिद्ध व्यक्तियों को वर्ण्य बना कर भी भावक के उनके प्रति बद्ध-मूल विश्वास को एक दृढ़ प्रतीति में परिणत किया जा सकता है। **'अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी'**।[1]

ऐसा प्रतीत होता हैं कि अभिनव का आदर्शवादी आग्रह लोकमानस में ग्रहीत परम्पराप्रथित आख्यानों के प्रति ही है, अतः वे वर्तमान चरित अथवा घटनाओं का अनुकरण उचित नहीं मानते, क्योंकि इस स्थिति में रागद्वेष ताटस्थ्य आदि से उत्पन्न अवरोध के कारण प्रमाता उसमें तन्मय नहीं हो सकेगा।[2]

प्रख्यात वस्तु के मूल में, जैसा हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है, मिथकीय संचेतना के निहित रहने से उसमें रूपकात्मकता का अनिवार्य प्रवेश हो जाता है, फलतः प्रमाता स्थूल इतिवृत्त में निहित भाव-सत्य का अनुसंधान कर तन्मय होता है।

स्वगत सुख-दुःख आदि की प्रतीति

स्वगत प्रतीति का उल्लेख भट्टनायक ने भी किया है। लौकिक अनुभूति और काव्यानुभूति में अपेक्षित मानसिक अन्तराल न बनाये रखने का परिणाम यह होता है कि सामाजिक काव्य में वर्णित करुण तथा शृंगार के दृश्यों में भी व्यक्तिगत प्रतीतियों का आस्वादन करता है। इस संदर्भ में नाट्यदर्पण-कार का कथन है कि स्वगतप्रतीति में रसास्वाद केवल एक व्यक्ति तक सीमित रहने के कारण अन्य प्रमाताओं का प्रतिक्षेपक होता है।[3] वह दूसरों

---

१. नाट्यशास्त्रम्, पृ० २८०

२. न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तः। विनेयानां तत्र रागद्वेषमध्यस्थतादिना तन्मयीभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात्।
(अभिनवभारती, दिल्ली १९७३, पृ० १४६)

३. ना० द०, दिल्ली-१९६१, पृ० २९८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की रसानुभूति में बाधक होता है। वस्तुतः स्वगतप्रतीति रसास्वाद को लौकिकस्तर पर ग्रहण करती है, जिसमें नियतव्यक्तिविशेष से सम्बद्ध ही रसास्वाद होता है।[१] अभिनव के अनुसार प्रमाता कभी सुख के नष्ट होने के भय से, कभी उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होने के कारण, कभी दुःख परित्याग की चिन्ता अथवा उसके प्रकट करने या गोपन की इच्छा से प्रेरित हो कर सुख, दुःख अथवा तटस्थता के संवेदनों से मुक्त नहीं हो पाता।[२] इस स्थिति में प्रमाता का पूर्वाग्रह प्रखर हो जाता है तथा वह अपने निजी विश्वासों एवं देशकाल के परिमित संकीर्ण प्रभावों से घिर कर काव्य का मुक्त आस्वादन नहीं कर पाता। रिचर्ड्स का कथन है कि अतीत की स्मृतियाँ काव्य के यथार्थ ग्रहण में बाधक हो जाती हैं। ये काव्यानुभूति को अप्रासंगिक दिशा में ले जाती है।[३] अत्यधिक भावुक अथवा संवेदनशील व्यक्ति व्यक्तिगत दृष्टि से अप्रीतिकर घटनाओं का अधिक समय तक आस्वाद नहीं कर सकते, वे उसकी समाप्ति की इच्छा से व्यग्र हो उठते हैं।

कुछ व्यक्ति कथा के केन्द्र में स्वयं को प्रक्षेपित कर लेते हैं, फलतः साधारणीकरण के अनुरूप उनका व्यक्तित्व विलगित नहीं हो पाता। ऐसे प्रमाता काव्य-वस्तु के प्रति अपेक्षित मानसिक अन्तराल की सीमा का शीघ्र अतिक्रमण कर जाते हैं। उदाहरणार्थ 'औथेलो' के नाट्य-प्रेक्षण के क्षण में अपनी पत्नी के प्रति शंकालु प्रमाता 'औथेलो' के आचरण और परिस्थितियों से उस सीमा तक सहज ही तादात्म्य करता जाएगा, जहाँ तक वे उसकी अनुभूतियों के मेल में है। उस संवादिनी अनुभूति में वह अपनी ईर्ष्या के प्रति अधिकाधिक सजग होता जाएगा, किन्तु औथेलो की डेस्डीमोना के प्रति मोह भंग का आभास होते ही उसकी तन्मयता स्थिति-विपर्यय के कारण भंग

---

१. वही, पृ० २९७

२. नाट्यशास्त्रम्, बडौदा, पृ० २८०

३. These are misleading effects of the reader's being reminded of some personal scene or adventure, erratic associations, the interference of emotional reverberations from a past...
(I. A. Richards (Practical Criticism) London-1956, p. 15)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हो जाएगी।[1] यह संवादिनी रसानुभूति की विपरीत दिशा है, जिसे एडवर्ड बुलो ने अन्तराल का विलोम कहा है। इसी से सम्बद्ध है रस की परगत-प्रतीति की विसंवादिनी अनुभूति।

रस की परगत प्रतीति में प्रमाता अनुकर्ता में भावाभिव्यक्ति को प्रत्यक्ष संवेदन के स्तर पर ग्रहण कर सुख या दुःख से आविष्ट हो जाता है। अन्तर यह है कि स्वगत प्रतीति में अनुभूति प्रतिक्रियाजन्य होती हैं, परगत में अनुक्रियाजन्य। देवासुर संग्राम के नाट्य-प्रयोग को देख कर असुरों का विक्षोभ स्वगत प्रतीति का उदाहरण है, किन्तु सीता-हरण के नाट्य-प्रेक्षण के समय रावण पर कुपित हो कर मैसूर नरेश की लंकाभियान के लिए सेना को आज्ञा देने इत्यादि की अनुश्रुतियाँ परगत प्रतीति की प्रमाण हैं। परगत प्रतीति में सुख दुःख की संवेदना के समय तटस्थता का भी भाव निहित रहता है। मेरा इनसे क्या प्रयोजन? जैसी वीतरागात्मक स्थिति भी काव्यस्वाद में अन्तराय उपस्थित करती है। दोनों ही स्थितियों में प्रमाता की चेतना व्यक्तिवद्ध तथा देशकाल से नियंत्रित रहती है। अभिनव के अनुसार सुख दुःख आदि का संवेदन होने पर सामाजिक निश्चय ही सुख, दुःख, मोह या माध्यस्थ्यादि के संवेदनों को अपने अन्दर अनुभव करता है, अतः उसका रसबोध निर्विघ्न नहीं हो पाता।[2]

उत्तररामचरितम् तथा हेमलेट में स्वगत परगत देशकालविशेषावेश की स्थितियों का मार्मिक नाट्य-रूपान्तर हुआ है। उत्तररामचरितम् में सीता-परित्याग का दृश्य देख कर राम की मानसिक अन्विति भंग हो जाती है। **राम: वत्स लक्ष्मण! असंविज्ञातमनिबन्धनमन्धतमसमिव प्रविशामि, धारय माम्।**[3]

---

१. In reality, the concordance will merely render him acutely conscious of his own jealousy; by a sudden reversal of perspective he will no longer see Othello apparently betrayed by Desdemona, but himself in an analogous situation with his own wife.
(Edward Bullough (Rader), p. 398)

२. नाट्यशास्त्रम्, पृ० २८०

३. उत्तररामचरितम्, काणे, पृ० १४५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

नाट्य प्रयोग के समय राम प्रत्येक घटना के समानान्तर अपने अतीत जीवन का प्रत्यवलोकन करते हैं—

राम : काम्पि दशां कुर्वन्ति मम सांप्रतम् ।
विस्मयानन्दसन्दर्भजर्जराः करुणोर्मयः ॥ (७/१२)

टीकाकार घनश्याम[1] ने **संदर्भण सम्बन्धविशेषेण** तथा वीरराघव ने **'स्वसम्बन्ध-संभावनार्हताप्रयुक्तप्रीतिविशेषन'**[2] के द्वारा राम की स्वगतप्रतीति मूलक इसी मनोभूमिका की ओर इंगित किया है। हेमलेट के दृश्य को भी इसी के समानान्तर रखना प्रासंगिक होगा। हेमलेट नटों की मंडली से एक दृश्य अभिनीत कराता है, जिममें उसके पिता की हत्या का समानान्तर दृश्यांकन है। संदिग्ध हत्यारे हेमलेट के चाचा एवं माता उस दृश्य को अपने जीवन से विच्छिन्न कर विशुद्ध नाट्यानुभूति के स्तर पर ग्रहण नहीं कर सकते। होरेशियो इस संदर्भ में कहता है कि नाटक के प्रदर्शन के समय अपनी प्रतिक्रियाओं के प्रदर्शित हो जाने के भय से वे अवश्य खिसक जाएँगे और जैसे ही उद्यान में राजा को जहर दिए जाने का दृश्य प्रस्तुत होता है, पोलोनियस चिल्ला उठता है खेल समाप्त करो। वाण बिंधे मृग की तरह वह चला जाता है।[3] अभिनव ने ऐसे सामाजिकों को गोपनेच्छारसिक कहा है, जिनको यह व्यग्रता रहती है कि हमारी प्रतिक्रियाओं का प्रकाशन लक्षित तो नहीं किया जा रहा है। ऐसे सहृदय अपनी लौकिक इच्छाओं से सम्वद्ध प्रतिक्रियाओं को नियंत्रित नहीं कर पाते।

अभिनव ने रसानुभूति में आने वाले स्वगत एवं परगत विघ्नों के निराकरण के लिए रसास्वादन के उपयोगी विविध अभिव्यंजना कौशलों का उल्लेख किया है। अनुकार्य राम, दुष्यंत आदि की वेशभूषा के अनुरूप मुकुट एवं प्रसाधन नट के स्वरूप को आच्छादित कर प्रमाता के सम्मुख उसको जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं, उससे स्वतः एक मानसिक अन्तराल की सृष्टि होती है। **'प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः···तस्मिन् हि सति, 'अस्यैव, अत्रैव, एतर्ह्येव, च सुखं दुःखं वेति न भवति। प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्,**

---

१. उत्तररामचरितम्, काणे, पृ० १५०
२. वही, वीरराघवकृत टीका, लाहौर, १९४६, पृ० २००
३. Hamlet Act-3 Scene-2

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रूपान्तरण चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। सत्ये तदीयरूपनिह्नवमात्रे एव पर्यवसानात्।'[1]

निजसुखादिविवशीभाव :

प्रमाता यदि अपने निजी सुख दुःख अथवा व्यवहारिक जीवन की दैनन्दिनी पीड़ा से व्यथित है, तो वह दृश्य-वस्तु में तन्मय नहीं हो सकेगा। इसी के समानान्तर तथ्य यह भी है कि अपने निजी अनुभव संसार के साथ प्रमाता जब काव्य-श्रवण अथवा नाट्य-प्रेक्षण में प्रवृत्त होता है, तो अपनी निजी धारणाओं एवं व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण वह आत्मलीन रहता है। नाट्य के प्रभाव को वह अविकल रूप में ग्रहण नहीं कर पाता। कैनेथ वर्क ने एक भिन्न संदर्भ में इसी ओर इंगित किया है कि मानसिक-स्थिरता, प्रमाद, विद्रूप, अविश्वास एवं अनुदारता के कारण वहुत से प्रेक्षक वस्तु के प्रति वहिर्मुखी आचरण करते हैं।[2]

नाट्यार्थ अथवा काव्यार्थ के ग्रहण के लिए जिस स्वस्थ मानसिकता की आवश्यकता है, वह अनिवार्यतः एक विशिष्ट स्वस्थ परिवेश की साक्षी होती है। पीड़ित मानसिकता अपने अनुभव संसार से भिन्न रचना संसार में प्रवेश नहीं कर सकती। युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानसिकता शेक्सपीयर से साधारणीकृत नहीं हो सकती।[3] मानसिक-स्थिति का परिवर्तन अथवा कालिक

---

१. Natyasastra Vol. I Abhinavabharati (Baroda), p. 281

२. On the side of the aesthetic inefficiency, indolence, dissipation, vacillation, mockery, distrust, hypochandria, inconfirmities bad sportsmanship, in short negativism.
(Kenneth Burke (Counterstatement) California-1953, p. 111)

३. We can agree that, if the Bomb fell, there might be precious little of Shakespeare left. And supposing a few persons survived, grubbing for roots, it is unlikely that they would have the repose of spirit necessary for an appreciation of Timon of Athens.
(Philip Hobsbaum (A Theory of Communication), London-1970, p. 222)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अन्तर भी प्रमाता के द्वारा कृति के आस्वादन में बाधक हो सकता है।[1]

स्पष्टतः पूर्व रंग के सीमित विधान, नटी एवं विदूषक की चेष्टाएँ भिन्न-भिन्न भाषाएँ, लास्य के अंग, रंगपीठ एवं रंगमंडप का प्रसंगानुकूल अलंकरण तथा नाट्यधर्मियों के सहित अभिनय की विविध रूपताएँ प्रेक्षक के हृदय को व्यक्तित्व की संकीर्ण सीमा से मुक्त कर अधिक उदार और व्यापक बनाने में योग देती है। यही कारण है कि भरत मुनि ने साधारणीकरण की सिद्धि की दृष्टि से रसास्वादन के उपयोगी इन अभिव्यंजना माध्यमों को एकत्र किया है 'स एष सर्वा मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकर-बन्ध समाश्रित इति।'[2]

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि रंगमंच प्रसाधन अपेक्षाकृत अधिक स्थूल माध्यम हैं। कृति के आन्तरिक संगठन से उत्पन्न प्रभाव प्रेक्षक को एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति प्रदान करते हैं। अरस्तु ने इस ओर संकेत करते हुए कहा कि त्रास और करुणा की उद्बुद्धि रंगमंच के उपकरणों से हो सकती है, किन्तु प्रस्तुति की आन्तरिक संरचना से उत्पन्न होने वाले भावों का आश्रय लेना अधिक सुन्दर तथा कवि की उत्कृष्टता का द्योतक है। रंग-विधान द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना उतना कलात्मक नहीं है, जितना कि बाह्य उपकरणों के सीमित उपयोग के द्वारा करुणा और त्रास का उद्रेक है।[3]

फिर भी इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि नाट्य-प्रयोग बाह्य प्रसाधन और कृति की आन्तरिक संरचना के द्वारा ही प्रेक्षक की मनोवृत्तियों को एकाग्र करने में सफल होता है। अतः नाटककारों ने नाट्य-

---

१. Any reader can have an off day or a quirk of temperament that prevents him responding to a particular work. But again, this can be demonstrated by an appeal to the experience of other readers.
(Ibid. p. 221)

२. नाट्यशास्त्रम् पृ २८०-८१

३. Fear and pity may be aroused by spectacular means; but they may also, result from the inner structure of the piece, which is better way, and indicates a superior poet. (p. 49)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रयोग की प्रेक्षक-साक्षेपता पर सर्वप्रथम दृष्टि केन्द्रित की है। यथा—'सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते।'[1] 'उदात्तकथावस्तुगौरवाद्वा नवनाटकदर्शनकुतूहलाद्वा भवद्भिरवधानं दीयमानमभ्यर्थये।'[2] इत्यादि संदर्भ इस तथ्य के साक्षी हैं कि आन्तर और वाह्य संरचना के प्रति नाट्यकार की सजगता प्रेक्षक को नाट्य-वस्तु में तन्मय करती है।

इस स्थिति में प्रमाता के चित्त को व्यक्तिगत, हर्ष दुःख, रागद्वेष की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठा कर वैयक्तिक संपर्गों से मुक्त करना आवश्यक है। इस संदर्भ में अभिनव ने इस विशेष तथ्य की ओर इंगित किया है कि मूलतः शब्दादि विषय साधारणीकृत अथवा सर्वभोग्य होते हैं 'प्रतिपदार्थनिष्ठा-साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, शब्दादिविषयमयीभिः.........'[3] आशय यह है कि काव्य तथा नाट्य का अभिव्यंजना-चमत्कार मूलतः निर्वैयक्तिक होता है। फलतः काव्य एवं नाट्य के अतिरिक्त सौंदर्य के व्यूह में घिर कर प्रमाता अपने वैयक्तिक सुख दुःख एव पूर्वाग्रह से मुक्त हो जाता है तथा मन के एकाग्र हो जाने पर काव्यार्थ के प्रति भी सहिष्णु हो कर काव्य अथवा नाट्य-वस्तु का अन्तर्भावन करता है। वस्तुतः अभिव्यंजनागत वैशिष्ट्य कुछ प्रतीकों में केन्द्रित होता है, जो साधारणीकृत फलतः सर्वभोग्य होते हैं। एक उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट किया जा सकता है। पद्मपुराण में रविषेण ने रामायण के प्रसंगों को जैन विचारधारा के अनुरूप परिवर्तित कर दिया है। उसमें निहित प्रखर साम्प्रदायिकता का स्वर आर्य-आस्था के प्रति आग्रहशील प्रमाता को अग्राह्य (अश्रद्धेयमिदं सर्वं वियुक्तमुपपत्तिभिः पद्म० २/२३०) तथा संशय की भावभूमि में पोषित प्रमाता को आकृष्ट भी कर सकता है। किन्तु जैसे ही वह काव्य की रंगभूमि में प्रवेश करता है, उसका प्रथम साक्षात्कार इस अभिव्यंजना वैशिष्ट्य से होता है, तो वह नाद-सौंदर्य में तन्मय हो कर अपनी निजी आस्था को कुछ देर के लिए विस्मृत कर देता है

'जुगुंजुर्मञ्जवो गुंजा विनेदुः पटहा पटु।
नान्द्यो ननन्दुरायातं चक्वणुः काहलाः कलम्॥

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम पृ० ४ (प्रथम अंक)
२. वेणीसंहारम् (निर्णय सागर, शक १८४६), पृ० ६
३. नाट्यशास्त्रम् पृ० २८१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अशब्दायन्त शंखौधाः धीरं तूर्याणि दध्वनुः ।
ववर्णुविशदं वंशाः कांसतालानि चक्वणुः ।।
(पद्मपुराण १०५/५२-५३)

क्रमशः उसका विचारविजड़ित हृदय विमलता-सरलता को प्राप्त कर सहृदयता में परिणत हो जाता है। तदनन्तर प्रमाता क्रमशः काव्यार्थ को भी सहिष्णुता एवं तन्मयता से आत्मसात् कर वैयक्तिक रागद्वेष-मूलक चिन्ताधारा से मुक्त एवं आग्रहशून्य हो कर हृदय की विशदता का अनुभव करता है। अभिनव ने इस संदर्भ में नाट्य-प्रयोग की वाह्य संरचना का भी उल्लेख किया है, जिससे शुष्क और अरसिक व्यक्ति भी सरसता प्राप्त कर सहृदय वन जाते हैं। गायन, वाद्य, अनेक प्रकार के नृत्य तथा विदग्ध गणिकाओं के द्वारा मनोरंजन का विधान किया जाता है, जिससे अपेक्षाकृत कम परिष्कृत प्रमाताओं को भी मन के एकाग्र करने में सरलता होती है।[1] कुट्टनीमतं काव्यम् में इस स्थिति का मार्मिक उल्लेख है। रत्नावली की भूमिका में मंजरी विविध संरचनाओं, कण्ठस्वर की भिन्नताओं, वाणी के विविध अर्थों के प्रकाशन की भंगिमाओं, सात्त्विक भावों के उन्मीलन, अभिनय, भूमिका के अनुरूप वेशभूषा, आभूषण-धारण इत्यादि के द्वारा सहज ही प्रमाताओं की वृत्तियों को समाकृष्ट करती है।[2]

नाट्य-प्रेक्षण में सामष्टिक स्तर पर तन्मयीभवन भी एक मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता है। जिन प्रमाताओं की संवेदना एवं कल्पना अधिक प्रखर होती है, वे लिखित पृष्टों के माध्यम से भी सामष्टिक-चेतना में अन्तःप्रवेश कर सकते हैं।[3] उन्हें विभावादि का क्षीण स्पन्दन भी पर्याप्त है। अभिनव के

---

१. आतोद्यगानविचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरंजनं समाश्रितम् ।
येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते ।
(ना० शा० भाग-१, पृ० २८१)

२. विविधस्थानकरचनां परिक्रमं गात्रचलनलालित्यम् ।
काकुविभक्तार्थगिरो रसपुष्टिं वासनास्थैर्यम् ।
सात्त्विकभावोन्मीलनमभिनयमनुरूपवर्तनाभरणम् ।
मिश्रामिश्रे वाद्यलयाच्युर्ति वर्णयंति मंजर्याः ।
(कुट्टनीमतं ६०३-६०४, पृ० १६६

३. The choice goes by temperamental preference. Literary

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शब्दों में 'तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्य हेतुवलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमित विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति' ।[1]

प्रतीत्युपायवैकल्यम्

काव्य में रसात्मक प्रतीति के उपाय विभाव-अनुभाव आदि की प्रसंगोपात्त योजना यदि अनवद्य एवं संगत नहीं है, तो प्रमाता काव्य-वस्तु से साधारणीकृत होने में मानसिक आयास का अनुभव करेगा। अभिनव ने पहले भी विघ्नापसारकाः विभावप्रभृतयः कह कर विभावों की संगतिपूर्ण योजना को काव्यास्वाद के अनिवार्य प्रतिमान के स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। विभाव का अर्थ है—काव्य में पात्र स्थिति और उनके परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाजन्य अन्तः-व्यापार की अपेक्षामूलक-योजना। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में भी अरस्तु से लेकर इलियट तक सभी समीक्षक विभावों की सुसंगत योजना को काव्यास्वाद की अनिवार्य भूमिका स्वीकार करते हैं। कवि अपने विचार का सीधा अभिधापरक सम्प्रेषण नहीं करता। वह वस्तुओं और स्थितियों की विम्बात्मक शृंखला को माध्यम वनाता है। इलियट ने मेटाफिजीकल कवियों की प्रशंसा इसी आधार पर की है कि उनमें संवेग के अनुरूप विभाव-योजना अत्यन्त सुसंगत एवं सुनियोजित है। अन्यत्र उनका कथन है कि भावनाओं तथा उनके मूर्तविधान अथवा विभावन व्यापार में पूर्ण सामंजस्य ही भाव-सम्प्रेषण को प्रभावी वनाता है।[2] विभावयोजना का संवंध अभिव्यक्ति के प्रसाधनों से है। प्रसाधनों की अशक्तता अथवा अपूर्णता के कारण रस की अभिव्यंजना में व्याघात उपस्थित होता है। भापा के रागात्मक प्रयोगों की उपेक्षा कर तथ्य-सूचनात्मक अथवा इतिवृत्तात्मक प्रयोगों

---

persons believe in the unaided script, theatrical persons believe in performance. (Eric Bentley, Life of Drama, p. 148)

१. नाट्यशास्त्रम् (१) पृ० २८७

२. The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative, in other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of the particular emotion, such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked. (T. S. Eliot, The Sacred Wood p. 100)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तक सीमित रहने वाली अभिव्यंजना प्रसंग के अनुकूल बिम्ब-सृष्टि में असमर्थ रहती है। अतः कवि काव्य को स्वशब्दवाच्यत्व दोष से मुक्त रखने की चेष्टा करते हैं। शंकुक का भी कथन है कि रत्यादि शब्दों का अभिधेय प्रयोग केवल परोक्षात्मक ज्ञान करा सकता है। काव्यार्थ का सम्प्रेषण तो मूर्त विभावन के द्वारा ही हो सकता है। अतः भावों को शब्दों से अभिधेय नहीं बनाना चाहिए। भावानां पूर्वमभिधेयता प्रसंगात्।

ध्वनिकार का कथन है कि सहृदयों से संवेद्य शब्दो में रसाभिव्यक्ति की नैसर्गिक सामर्थ्य शब्दों की चारुता को नियमित करती है। शब्दों का यह चारुत्व मूलतः व्यंजकत्व पर आश्रित होता है 'रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यंजकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्[1]। मम्मट के अनुसार 'सव्रीडादयिताननं सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे' से भाव का वह मूर्त बिम्ब उपस्थित नहीं होता, जो 'व्यानम्रा दयिताननं मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे' से उभरता है।[2] कविता वस्तुतः वर्णमय चित्र ही होती है। भाव का मूर्त बिम्ब उपस्थित कर वह अनुभूति को साधारणीकृत करती है। विचार के बिम्ब में परिणत होते ही उसमें सार्वभौम चेतना का परिष्पन्द व्याप्त हो जाता है।[3] अतः अभिनव का कथन है, 'परोक्ष प्रतीति उत्पन्न करने वाले शब्द-लिंगों की सत्ता मात्र से प्रतीति की विश्रान्ति नहीं हो जाती, प्रत्यक्षानुभूति की आकांक्षा बनी रहती है।[4] वस्तुतः शाब्दिक कथन मात्र से भावक काव्यार्थ से तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता। अभिनव के अनुसार जहाँ नाटक में अभिनय के द्वारा भावों

---

१. ध्वन्यालोक (वाराणसी, १९६२) पृ २११

२. काव्य-प्रकाश (बालबोधिनी, १९२१) पृ ४३४

३. Whether or not one believes in universals, one may see the persistence in literary criticism of a theory that poetry presents the concrete and the universal, or the individual and the universal, or an object which in a mysterious and special way is both highly general and highly particular.
(W. K. Wimsatt, The Verbal Icon p. 71)

४. अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति, स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकांक्षत्वाद्। (ना० शा० पृ० २८१)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

का मूर्तीकरण साधित होता है, वहाँ काव्य में भाषा की अभिनय-मुद्रा ही साक्षात्कार के सदृश प्रतीति उत्पन्न कर चित्तवृत्ति को साधारणीकृत करती है। अभिनयनं हि चित्तवृत्तिसाधारणतापत्तिप्राणसाक्षात्कारकल्पाध्यवसाय सम्पादनमिति।[1]

साधारणीकरण में अनुभूति की प्रत्यक्ष संवेद्यता अनिवार्य है, जो अभिनव की 'साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं' पदावली से स्पष्ट है। विश्वेश्वर के अनुसार रस की यह साक्षात्कारात्मक प्रतीति मूलतः रचना-विधान की उपजीवी है 'संविधानकचातुर्यात्साक्षादिव परिस्फुरन्'[2]। वस्तुतः उसको लज्जा लगी है' में रसानुभूति के लिए शब्दगत लिंगों का अनुमानपरक आश्रय लेना पड़ता है, अतः अनुभूति धूमिल रह जाती है। 'उसके नेत्र झुक गये' में अनुभूति परोक्षानुभूति की अपेक्षा प्रत्यक्षपरक, अर्थात् साक्षात्कृत रहती है, जो साधारणीकरण की अनिवार्य भूमिका है।[3] अभिनव ने विभावों की अपूर्ण योजना को स्फुटत्वाभाव के क्रम में विश्लेपित किया है। इन विघ्नों के निराकरण के लिए लोकधर्मी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया है। भरत ने वृत्तियों को सभी काव्यों की मातृकाएँ कहा है।

वृत्तियाँ मूलतः मानवमात्र की चेष्टाओं का मानक रूप प्रस्तुत करती हैं। वाच्यार्थ के रूप में कवियों के हृदय में अवस्थित इन वृत्तियों से काव्य की सृष्टि होती है। अभिनेय अथवा अनभिनेय, दोनों प्रकार के काव्यों में इनके प्रयोग से प्रत्यक्ष भावना आ जाती है[4] तथापि प्रयुज्यमान होने के कारण अभिनेय काव्य इनका अधिक उपयुक्त क्षेत्र है।[5] वस्तुतः काव्य में भी

१. नाट्यशास्त्र २२ अध्याय खंड ३ पृ० १५०
२. चमत्कार-चन्द्रिका पृ० १०७
३. स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यन्यथाभावस्यासंवेदनात्।
(ना० शा०, पृ० २८१)
४. यद्यपि सर्वेषामभिनेयानभिनेयानां च काव्यानां वृत्तय इष्टा मातर इव, ताभ्योऽपि वाच्यरूपत्वेन कविहृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते।
(ना० शा० (बालक्रीडा) काशी-२०३२ द्वितीय भाग, पृ० १४३७)
५. तथापि प्रयोगं प्रयुज्यमानत्वात्प्रयोगयोग्यत्वमभिसन्धाय वृत्तिभ्यो विनिस्सृतमभिनेयकाव्यं प्रत्यक्षभावनायोग्यवृत्तिचतुष्टयाभिधायकत्वं (वही)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भाषिक मुद्राओं का प्रयोग शब्दों के प्रतीकीकृत आचरण को व्यक्त करने में योग देता है। ब्लेकमूर ने इसे भाषिक भंगिमा की संज्ञा दी है तथा कैनेथ बर्क इसे प्रतीक का स्पन्दन कहता है।

अप्रधानता

काव्य में गौण वस्तु प्रधान वस्तु की सापेक्षता में ही अपना महत्त्व प्रकट करती है। गुणालंकार की स्थिति तो रस की अपेक्षा गौण ही है, विभाव, अनुभाव अथवा संचारी भी स्थायी की अपेक्षा गौण है। इन सबका पर्यवसान प्रधान भाव में होता है। एक केन्द्रीय भाव विविध संवादी एवं विसवादी संवेदनों से अन्वित होकर काव्य के सारभूत प्रभाव को चरम परिपाक तक पहुँचाता है, अतः चर्वणा का विषय काव्य-नाट्यगत, प्रधान वस्तु या स्थायी भाव का नाट्यान्तर हैं, किन्तु यदि अप्रधान वस्तु का विस्तार ऐसा हो जाए कि भावक की वृत्ति गौण प्रभाव मात्र में केन्द्रित रह जाए तो काव्य के सारभूत प्रभाव के कुण्ठित हो जाने से अप्रधान वस्तु में भी प्रमाता का चित्त विश्रान्ति नहीं पा सकेगा। बार-बार प्रमाता का मन प्रधान वस्तु की ओर दौड़ेगा, किन्तु गौण वस्तु के प्रधान रूप में आविर्भूत होने तथा प्रधान वस्तु के उपेक्षित रह जाने के कारण उसकी मानसिकता अन्वित न हो कर विश्रृंखलित हो जाएगी। 'अप्रधाने च वस्तु कस्य संविद्धि-श्राम्यति ? तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्'।[१] उसी प्रकार विभाव-अनुभाव व्यभिचारी भी निरपेक्ष रूप से प्रमाता की चर्वणा का विषय नहीं हो सकते। विभाव-अनुभाव अचेतन हैं तथा व्यभिचारी भाव परमुखापेक्षी होते हैं।[२] वस्तुतः अभिनव की दृष्टि प्रबन्धात्मकता पर ही विशेष केन्द्रित रही है जिसमें एक केन्द्रीय भाव अथवा अंगी रस को चरम दशा तक पहुँचने का उपक्रम किया जाता है। सम्पूर्ण

---

१. नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) बडौदा, पृ० २८१

२. अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्याभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखप्रेक्षिणि सम्भवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्।
(वही, पृ० वही)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रबन्ध में एक ही कार्य अभिव्याप्त रहता है।[1] अंगी रस मूलतः मुख्य पात्र की ही स्थायी-वृत्ति का प्रतिफलन होता है। काव्य के सम्पूर्ण विकास में उसी की जिजीविषा, चरम व्यापार अथवा फलागम का निर्धारण करती है। अतः कवि का चरम लक्ष्य यह होता है कि उपनायक या प्रतिनायक प्रमुख पात्र का स्थान ग्रहण न कर ले तथा अप्रधान रसों के आधिक्य से प्रधान रस विच्छिन्न न हो जाए अथवा व्यभिचारी भावों अथवा अनुभावों का मर्यादा-वाह्य संनिवेश न हो जाए, इस स्थिति में कवि को विरोधी रसों के संयत विकास, व्यभिचारियों के संतुलित संयोजन तथा अंगभूत रस की अंगरूपता के प्रति अत्यन्त जागरूक रहना पड़ता है। अतः रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार कवि को ऐसे नाटक की रचना करनी चाहिए, जिसमें एक रस अंगी तथा अन्य रस गौण हों। रसाधिक्य अथवा अत्यधिक अलंकार प्रयोग से कथा अथवा रस का विच्छेद नहीं होना चाहिए।[2] ध्वनिकार ने इसे **वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनं** कहा है तथा काव्य-दोषों में भी उक्त विघ्नों का अन्तर्भाव **अंगस्याप्यति विस्तृतिः** तथा **अंगिनोऽननुसंधानं** या **अनंगस्याभिधानं** में किया है, जिनके पर्यालोचन से अप्रधानता का संदर्भ अधिक वोधगम्य हो सकता है।

अकाण्ड-प्रथनच्छेदन अथवा अनवसर में विस्तार से आशय प्रसंग से असंबद्ध रस वर्णन से है। वेणीसंहार में अनेक वीरों के मरण के अवसर पर दुर्योधन और भानुमती में शृंगार चर्चा इसी कोटि में आती है।[3] अंग की अत्यन्त विस्तृति का उदाहरण मम्मट के अनुसार हयग्रीववध काव्य में प्रति-नायक हयग्रीव के क्रियाकलाप का विस्तृत वर्णन है। वस्तुतः अप्रधानता का संदर्भ एक साक्षेप संदर्भ है। आधुनिक समीक्षा-दृष्टि काव्य अथवा नाट्यानु-भूति की विशुद्धता को इस शर्त पर स्वीकार नहीं करती कि उसमें विसंवादी अनुभूतियों की योजना न की जाए। रोवर्ट पेन वोरेन तथा रिचर्ड्स शृंगारिक कविताओं में विद्रूप तथा यथार्थ के अनुषंगों को एकान्ततः निषिद्ध

---

१. कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
(ध्वन्यालोक, वाराणसी-१९६२, पृ० २३१)

२. नाट्यदर्पण १/१५, पृ० ३७

३. अकाण्डे प्रथनं यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृंगारवर्णनम्।
(काव्य-प्रकाश (वालवोधिनी), पृ० ४४०)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

नहीं ठहराते, फिर भी ये अवान्तर संदर्भ कथा की प्रमुख वस्तु का स्थान नहीं ले सकते। उन काव्यों में प्रतिनायक को नायक का गौरवपूर्ण स्थान अवश्य दिया जा सकता है, जिनमें उन्हें कथा के केन्द्र में प्रतिष्ठित कर प्राचीन मूल्यों को भिन्न स्तर पर परिभाषित किया गया है। हरदयालुका रावण, माइकेल मधुसूदनदत्त का मेघनाथ इसी कोटि के पात्र हैं और हयग्रीव प्रतिनायक के गौरव की प्रतिष्ठा के आधार पर इनसे भिन्न नहीं है। मिल्टन ने प्रतिनायक शैतान की प्रतिष्ठा कर सांस्कृतिक मूल्यों को नये स्तर पर परिभाषित किया है। अभिनव भी रसानुभूति की ऋजु रेखा को स्वीकार नहीं करते। उनका अभिमत है कि रसप्रधान रूपक में रति मुख्य रूप से तथा अन्य भाव गौण रूप से सम्बद्ध होते हैं, किन्तु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि भिन्न-रूपकों में एक भाव का दूसरे भाव के प्रति गुणी भाव हो सकता है। इस संदर्भ में उन्होंने एक उल्लेखनीय संकेत यह किया है कि आनन्दमूलक वृत्ति में भी उपरंजक विषयों के कारण दुःख का स्पर्श हो सकता है। 'इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्। किन्तूपरञ्जकविषय-वशात् तेषामपि कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्'।

अभिनव का यह अभिमत आधुनिक समीक्षा में भी स्वीकार्य है। रिचर्ड्स अन्तर्वेशी-काव्य को उस अपवर्जी काव्य से, जिसमें विसंवादी अनुभूतियों का सायास वहिष्कार किया जाता है, इस कारण श्रेष्ठ ठहराते हैं कि उसमें विसंवादी अनुभूतियों की अन्विति एवं संतुलन अनेक आयामी एवं जटिल होता है। कविता में विसंवादी संदर्भों का जैसे जैसे विस्तार होता जाता है. पाठक काव्य-परिवेश को परिवर्तित सांसकृतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में एक भिन्न कोण से परिभाषित करने लगता है।[२] तद्विपरीत भावुकतापूर्ण ऋजु शृंगारिक कविता में प्रेम की अनुभूति से इतर संदर्भों के सायास वहिष्कार का परिणाम यह होता है कि पाठक की जागरूक संवेदना में कविता में निहित अनुभूति का अतिरंजित परिवेश सहज ही उद्घाटित हो जाता है।[३] अभिनव का कथन है कि व्याभिचारिभाव स्थायी भाव की ऋजु संवेदना को

१. नाट्यशास्त्रम् (वड़ौदा), पृ० २८२
२, ३. दे० लिटरेरी क्रिटीसिज्म ए शार्ट हिस्टरी (व्रुक्स, विमसाट), पृ० ६४६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अनेक विचित्रताओं से युक्त कर उसके आयाम को विसंवादी अनुभूतियों के धरातल पर अधिक व्यापक बनाते हैं। 'स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्याभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना रक्त-नीलादिसूत्रस्युत-विरलभावोपलम्मनसम्भावितभङ्गोसहस्र... विचित्रार्थस्थायि-सूत्रं च विचित्रयन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयन्तो-ऽपि'[1] वस्तुतः इन व्यभिचारिभावों के योग से ही स्थायिभाव को अनेक रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है तथा सामान्यीकृत पात्र इन्हीं के योग से कभी भी अपनी गत्यात्मकता से शून्य नहीं होते।

संशय-योग

संशययोग का संदर्भ अप्रधानता के संदर्भ से ही जुड़ा हुआ है। विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारियों का स्थायिभाव के साथ एकान्त निश्चित संबंध न होने के कारण अनेक बार उनकी सापेक्ष स्थिति के विषय में संदेह उत्पन्न हो जाताहै तथा रस की अप्रतिहत प्रतीति व्याहत हो जाती है। आँसू, हर्ष तथा शोक, दोनों के अनुभाव हो सकते हैं, एक ही व्याघ्र भय तथा क्रोध का आवलम्बन हो सकता है। श्रम तथा चिंता आदि व्यभिचारियों का संबंध उत्साह एवं भय जैसे विरोधी स्थायी भावों के साथ हो सकता है। अतः काव्य में उनका संयोजन इस प्रकार आवश्यक है कि इतर भाव की प्रतीति को प्रतिबद्ध कर एक विशिष्ट भाव अथवा रस की ही असंदिग्ध प्रतीति हो। भरत के संयोग पद में रसों के अवयवों की सुनिश्चित योजना का संकेत निहित है। समग्रता के बोध में संशय का अवकाश नहीं रहता। उदाहरणार्थ जहाँ प्रियजन का विनाश विभाव है, विलाप एवं अश्रुपातादि अनुभाव तथा चिन्ता एवं दैन्य आदि व्याभिचारी हैं, वहाँ शोक ही प्रतीति होगी।[2]

मम्मट आदि ने उक्त विघ्न को विभावानुभाव की कष्ट कल्पना के अन्तर्गत रखा है। वस्तुतः काव्य-खण्ड में यदि विभाव अथवा अनुभावों की

---

१. नाट्यशास्त्रम्, पृ० २८३

२. यथा हि-बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः, चिन्ता दैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एव।
(ना० शा०, पृ० २८४)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

योजना की मानसिक पृष्ठ-भूमि स्पष्ट नहीं है तो वह आस्वादक की चेतना को उद्बुद्ध करने के स्थान पर चौंका कर रह जाती है। यथा-

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥[१]

यहाँ नायक के शरीर की विषम दशा के चित्रण में रुचि हटने, बुद्धि लुप्त होने, स्खलित आचारण करने आदि जिन क्रियापदों अथवा अनुभावों की योजना हुई है, उसके मूल में कवि की मानसिक वृत्ति विशेष स्फुट नहीं है। नायक की यह प्रतिक्रिया वियोगजन्य है या शोकजन्य, इसकी प्रतीति क्लिष्ट-कल्पना की अपेक्षा रखती है। मानसिक प्रतिक्रिया की अनिश्चतता रागात्मक एवं बौद्धिक सामंजस्य को आघात पहुँचाती है, फलतः चित्र विशृंखलित हो कर भावोद्बोधन में असमर्थ प्रतीत होता है। वामन झलकीकर ने उक्त श्लोक में अर्थबोध की इसी संशयनिष्ठता की ओर इंगित करते हुए लिखा है **'अत्र कामिनीरूपो नायक-निष्ठस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्यालम्बनविभावोऽभिमतः स च नोपात्तः। न च रतिपरिहारादिभिरनुभावैराक्षेप्तुमपि शक्यते तेषां करुण-भयानकबीभत्सेष्वपि संभवेन झटित्यनाक्षेपात्।'**[२]

प्रमाता काव्य-परिवेश में भावयित्री प्रतिभा अथवा कल्पना के द्वारा प्रवेश अवश्य करता है, किन्तु उसे अपनी निजी अनुभूति अथवा कल्पनाखण्डों का उस काव्य परिवेश में प्रक्षिप्त करने का अधिकार नहीं है। कविता स्वयं में प्रमेय है। आधुनिक समीक्षा में यह बात स्थिर हो चुकी है कि कविता अपने आभ्यन्तर तत्त्व को सम्प्रेषित करने का माध्यम भर है। कविता को स्वयं में पूर्ण इकाई मान कर ही प्रमाता उसके अनुभव खण्ड में सहभोक्ता हो सकता है, किन्तु यदि कविता का भाषिक माध्यम अपूर्ण या असंगत है, तो कविता एवं प्रमाता के बीच सम्प्रेषणीयता अप्रतिहत नहीं रह सकेगी।[3] फिर भी कवि का अनुभव परिवेश ऐसा भी हो सकता है, जिसे प्रमाता पूर्णतः आत्मसात् एवं स्वीकार न करे। एजरा पाउण्ड तथा इलियट की कविता की प्रारंभिक दुरूहता इसका प्रमाण है।[४] इस संदर्भ में काव्य-भाषा की संदिग्धा-

---

१. काव्य प्रकाश ७/३२६, पृ० ४३८

२. काव्यप्रकाश (झलकीकर), पृ० ४३८

३. T. S. Eliot—The Sacred Wood, p. 101

४. ...Pound, after rejecting the distorting ugliness of pluto-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

र्थक प्रवृत्ति की ओर भी संकेत करना आवश्यक है। कवि अनेक वार ऐसी जटिल अनुभूतियों को सम्प्रेषित करता है, जिसमें अनेक विसंवादी तत्त्व समिश्रित रहते हैं। एक काव्यांश में अनेक स्तरों को व्याख्यायित करने के कारण भाषा में अनिश्चयात्मकता का गुण आ जाता है। वस्तुतः यहाँ अनिश्चयात्मकता से आशय उस अनेकार्थक काव्य-प्रवृत्ति से है, जिसमें एक से अधिक संवादी-विसंवादी अर्थ संयुक्त हो कर स्रष्टा के मन की जटिलता का आभास देते हैं। यह जटिलता दो वस्तुओं की तुलना, एक एक संदर्भ में दो भावों के विन्यास, तथा दो भिन्न मूल्यों संदर्भों के विन्यास से आती है, अतः एम्पसन तथा नोवोटोनी[1] भाषा की अनेक स्तरीयता की ओर इंगित करते हुए जब अनिश्चयात्मकता को काव्य की मूल प्रवृत्ति घोषित करते हैं, तो उनका आशय कविता को संशय-गुणों से युक्त करना नहीं है। कविता की अनेक स्तरीयता काव्य को सार्वभौम आधार पर प्रतिष्ठित करती है। अतः रिचड्‌स उन्हीं प्रतीकों को काव्य-भूमि के अनुकूल मानते हैं, जो पाठक की

---

cracy, has had to grope towards the tentative articulatlon of a private vision...

(John Press, Chequered Shade, p. 138)

१. (a) ...the machinations of ambiguity are among the very roots of poetry.

(William Empson, Seven Types of Ambiguity Penguin-1965, p. 3)

(b) Ambiguity itself can mean an indecision as to what you mean, an intention to mean several things, a probability that one or other or both of two things has been meant, and the fact that a statement have several meanings)

(Ibid. p. 5-6)

(c) The ambiguity of the medium enables the poet, to meet the double demand we make of the language of poetry, that it should deal with both the phenomenal world and the world of values.

(Winifred Nowottony) The language Poets Use, p. 147

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अनुभूति में मौलिक स्तर पर अनूदित हो सकें। कवि को सीमित माध्यम के प्रयोग से असीमित संभावनाओं को व्यक्त करना पड़ता है, अतः माध्यम की अनेक स्तरीयता, जहाँ काव्य परिवेश की समृद्धि की ओर इंगित करती है, वहाँ पाठकीय संवेदना के स्तर पर अतिरिक्त संस्कार, अभ्यास एवं सांस्कृतिक परिष्कार की भी अपेक्षा रखती है।

साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका के निर्माण करने में अभिनव ने जिस मनोवैज्ञानिक एवं सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि का उपयोग किया है, उसमें वस्तुनिष्ठता और आत्मपरकता का समन्वय है। इस स्तर पर वे पाठक की मनोभूमि के विविध सोपानों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक समीक्षा में एडवर्ड बुलो, वर्नन ली ने जिन समानुभूति तथा मानसिक अन्तराल के सिद्धान्तों की उद्भावना की है, उनका पूर्वाभास भी उक्त विवेचन में उपलब्ध है। प्रमाता को यदि स्वस्थ मानसिक परिवेश या नाट्य-परिवेश उपलब्ध नहीं है, तो वह काव्यानुभूति अथवा नाट्यानुभूति में सहभोक्ता नहीं बन सकता है। कुट्टनीमतम् का राजकुमार कहता है—

नाट्यप्रयोगतत्त्वे मतयो न विशन्ति मादृशां प्रायः।
वाहनयानपदातिग्रामादिककार्यदत्तहृदयानाम् ॥"[1]

वस्तुतः नाट्यानुभूति के लिए एक विशिष्ट मानसिक दशा की अपेक्षा की जाती है, किन्तु उस दशा को उत्पन्न करने में नाट्योपकरणों और अभिव्यंजना-प्रसाधनों का भी महत्त्वपूर्ण योग है। अभिनव मात्र परिनिष्ठित सहृदयों के लिए ही नहीं सामान्य अहृदयों के लिए भी नाट्य-प्रयोग की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि आभिजात्य मूल्यों से प्रेरित है। किन्तु वे लोक-चेतना से पराङ्मुख नहीं है। कवि सहृदय एवं काव्य-वस्तु के अन्तःसंबंध के विविध स्तरों का उल्लेख कर उन्होंने साधारणीकरण की प्रक्रिया को एक व्यापक आयाम दिया है। इन विघ्नों की मूल प्रेरणा उन्होंने आनन्दवर्द्धन से ग्रहण की है तथा काव्य-दोषों एवं रस-दोषों की पूर्ववर्ती अवधारणाओं का अध्याहार कर अभिव्यंजना के अनेक स्तरीय प्रयोगों तथा काव्यानुभूति एवं नाट्य-प्रयोगों के आन्तरिक रहस्यों को उद्घाटित किया है। यह बात भिन्न है कि वे प्रमातृगत संवेदना, विभाव-योजना तथा कवि की रचनात्मक निपुणता को अपेक्षाकृत जटिल संरचनाओं से बचा कर

१. कुट्टनीमतम् ६२६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रख्यात इतिवृत्त मात्र में गतिशील देखना चाहते हैं। अभिनव के रस-विघ्न, विवेचन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसमें प्रमाता की विकीर्ण वृत्तियों को सामंजस्य के अन्त-सूत्र में बाँधने वाली आधुनिक समीक्षा की अवधारणाओं का शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत हुआ है। विघ्न-विवेचन के माध्यम से ही अभिनव साधारणीकरण सम्बन्धी अपनी स्थापनाओं को भट्टनायक की अवधारणाओं के समानान्तर अधिक व्यापकता एवं गतिशीलता देते हैं।

नाट्य में साधारणीकरण

नाट्यानुभूति में काव्यानुभूति की अपेक्षा साधारणीकरण का अधिक अवकाश रहता था। अभिनव के अनुसार इसके संभावित कारण इस प्रकार हैं—

१. नाट्यानुभूति में काव्यानुभूति ऐहिक लाभ के अभिप्राय एवं संस्कार से मुक्त होती है।

२. इसमें प्रमाता को समष्टिगत रसानुभूति में सहभागी होने का अधिक अवसर रहता है।

३. नाट्य-वस्तु के लोकोत्तर होने तथा उसके एक क्रमिक अनुवर्तन में अभिनीत होने के कारण औत्सुक्य का नैरन्तर्य बना रहता है।

४. अभिनय के द्वारा उपस्थित होने के कारण नाट्य में दृश्यमानता अधिक होती है[1]। नाट्यानुरूप गीत एवं आतोद्य तथा भिन्न भिन्न पात्रों के प्रवेश एवं निगर्मन की भूमिकाएँ एवं उचित भावभंगीपूर्वक प्रस्तुत संवाद दृश्य प्रभाव को तीव्र करते हैं।

५. मंचीय उपकरणों एवं नाट्य प्रयोग के मूर्त प्रभाव के कारण प्रमाता अपनी सांसारिक सत्ता को सहज ही विस्मृत कर देता है[2] तथा उसकी

---

१. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः (काव्यालङ्कारसूत्र १-३-३०) तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्
(वही, १-३-३३, अभिनवभारती, पृ० ४६२)
तदेवं पाठ्यादिरूपोपक्रमं गीतातोद्यप्राण-अभिनयवर्गपरिपुष्यद्रसचर्वणात्मकं परप्रीतिमयमेव नाट्य। (वही, पृ० १०३)

२. तेषामपि तु नाट्ये निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। (वही, पृ० ४६३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्यक्ति-चेतना देशकालातीत अनुभूति में पर्यवसित हो जाती है।

६. मंचीय तथा नटादि सामग्री से अभिभूत तथा देशकालपरक व्यक्तिचेतना से विनिर्मुक्त सामाजिकता की मानसिक के धरातल पर विभावादि सामग्री भी सम्यक् मिथ्या संशय संभावनादि ज्ञान से रहित तथा प्रमेय के विशेष सम्बन्ध से मुक्त निर्विशेष भूमिका पर प्रस्तुत होती है। इस अनुभूति क्षण में राम रावणादि किसी अपर ज्ञान के विषय नहीं रहते। उनमें सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान अध्यवसित हो जाते हैं। फलतः प्रमाता में चिन्तन-मनन की एक ऐसी अनवरत धारा प्रवहमान होती है, जिसके माध्यम से वह रामादि के चरित में प्रवेश कर तादात्म्य करता है। इस धरातल पर उसकी वैयक्तिक अनुभूति लोकानुभूति बन जाती है। समग्र विश्व को वह रामादि की भूमिका में योग देते हुए देखता है[1]।

७. इस देशकालातीत ज्ञान में प्रमाता के संस्कार तथा उपरंजक सामग्री से उद्‌भूत संविद् विशेष परस्पर संयुक्त होकर नाट्य वस्तु के जिस सार-भूत प्रभाव को ग्रहण करते हैं, उसमें शुभ को ग्रहण करने की प्रेरणा ही अधिकाधिक बलवती होती जाती है।[2]

८. नाटक केवल सहृदय प्रमाताओं को ही साक्षात्कारात्मक अनुभूति प्रदान नहीं करता, अपितु उन प्रमाताओं को भी जिनके संस्कार पूर्ण विकसित नहीं हैं तथा जो प्रबन्ध एवं मुक्तक काव्यों की सूक्ष्म अर्थ-च्छायाओं को ग्रहण नहीं कर सकते, आनन्द प्रदान करता है। नाटक के दृश्यविधान, गीतवाद्य, गणिका आदि के उपरंजनात्मक उपकरण असहृदयों को भी सहृदय बनाने की क्षमता रखते हैं।[3]

वस्तुतः रसानुभूति में अभिनव का सम्पूर्ण बल साक्षात्कारात्मक अनुभूति पर है। प्रमातृगत अनुभूति के साक्षात्कार-कल्प होने के कारण रसानुभूति का अधिक व्यापक क्षेत्र नाटक ही है। नाट्य-प्रेक्षण का क्षण प्रयोजनातीत

---

१. तदीयचरितमध्यप्रविष्ट-स्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन् (अभिनवभारती, पृ० १८६)

२. शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति। (वही, पृ० १८७)

३. अहृदयानां च तदेव नैर्मल्याधायि। (वही, पृ० ४६३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तदाकारिता का होता है, अतः नाट्यानुभूति में तादात्म्य अथवा तन्मयता का अधिक अवकाश रहता है। इसका एक संभावित कारण यह है कि रूपाकारों में प्रमातृगत तन्मयता किसी इतर पदार्थ के अनुचिन्तन का स्वतः अवरोध करती है। वाह्य उपादेयता के पक्ष के क्षीण हो जाने से यह अनुभूति विशुद्ध सौंदर्यानुभूति के रूप में व्यक्त होती है। काण्टका विचार है कि यह अनुभव हमारी प्रयोजनगत आकांक्षा की अपेक्षा क्रीडावृत्ति को उन्मुक्त रूप से लीलायित करता है।

कथा और साधारणीकरण

कथा जीवन को एक भिन्न स्तर पर व्याख्यायित करती है। संरचना की दृष्टि से इसकी वर्णनात्मक वस्तु में सादृश्य एवं रूपकात्मकता का अन्तर्योग होता है। फलतः इतिवृत्त की स्थूल रेखा का अतिक्रमण कर ये जीवन के वैविध्य-मूलक भावसत्यों का साक्षात्कार कराती हैं। ये केवल प्रमाता को रसमग्न ही नहीं करतीं, जीवन की विडम्बनापरक तत्त्वों के उन्मीलन के द्वारा मानवीय आचरण की व्याख्या एवं आलोचना भी करती हैं। जातक, पंचतन्त्र, हितोपदेश, वेतालपंचविंशति, कथासरित्सागर, दशकुमारचरितम् की कथाएँ कथावर्णन के माध्यम से जिज्ञासा एवं कुतूहल तृप्ति को ही लक्ष्य नहीं बनाती, पात्रों की अनुभूतियों और संवेगों की मनोवैज्ञानिक स्थितियों को भी व्यंजित करती है।

निश्चय ही कथाओं में नीति-तत्त्व प्रबल रहता है। उनमें चेतना के विविध स्तरों पर एक साथ संक्रमित होने की क्षमता नहीं होती। वे जीवन की आलोचना के माध्यम से ही भाव जगत् में अनुप्रवेश करती हैं। अतः अभिनव का कथन है कि कथाओं में नाटक जैसी समग्र चेतना-व्यापी कलानुभूति का अभाव रहता है। उनमें मन के भीतर ही विभावादि का साधारणीभाव हो जाता है। यहाँ साधारणीभाव से अभिनव का संभवतः तात्पर्य उस मानसिक तादात्म्य से है, जिसमें प्रमाता कथा की इतिवृत्तात्मक संरचना में निहित पात्रों के आचरण में ही जीवन-व्यवहार के नैतिक प्रतिदर्शों का बौद्धिक अनुसंधान करता है। अतः अभिनव कहते हैं कि यद्यपि कथा मात्र में साधारणीकरण हो जाता है, तथापि, मनुष्य अपने कर्म के अनुरूप फल पाता है, जैसे शास्त्रीय वाक्य के अनुरूप प्रमाता उनका अवबोध मात्र करता है। अतः

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

चमत्कृति के अभाव से उसकी चित्तवृत्ति तन्मय नहीं होती ।[1]

स्पष्टतः कथा से अभिनव का तात्पर्य पंचतन्त्र इत्यादि कथाओं से ही है। वासदत्ता कादम्बरी इत्यादि प्रबन्धों को भी कथा कहा गया है। किन्तु उनकी रसभूमि भिन्न है।

'स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम् ।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ॥'[2]

इसमें संदेह नहीं कि कादम्बरी जैसी कथाओं में भी कथाकार की दृष्टि कथा रसिकों के हृदय में अत्यधिक कौतुक उत्पन्न करने पर ही केन्द्रित रहती है। तथापि उसकी रसभरित भूमि प्रमाताओं को रसमग्न करने में कम योग नहीं देती। वाणसूनु पुलिनभट्ट की स्वीकृति है। **'कादम्बरीरसभरेण समस्त एव मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम् ।'**[3] इस स्तर पर कथा अलंकृत रस-प्रबन्ध ही है, जो नवोढा के समान सरस हाव-भाव प्रदर्शित करती हुई देदीप्यमान दीपक की भाँति सहृदय के हृदय को आलोकित कर अपने वश में कर लेती है।[4]

आलंकारिकों ने कथा की परिभाषा देते हुए उसमें नायक के चरित तथा विविध अनुभूतियों एवं दृश्यों के वर्णन की ओर संकेत किया है। अग्निपुराणकार ने मुख्य कथा के साथ अवान्तर कथा की सृष्टि की ओर भी संकेत किया है तथा विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कादम्बरी को केन्द्र में रख कर सरस वस्तु के गद्यात्मक निर्माण को रेखांकित किया है। **'कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।'**[5]

निश्चय ही कादम्बरी के साधारणीकरण की भूमिका पंचतन्त्र तथा कथासरित्सागर जैसी कृतियों पर ठीक नहीं उतरती। अभिनव की दृष्टि कथा के

---

१. 'कथास्वपि हृदय एव तावत् साधारणीभावो विभावादीनां जातः। तत्रापि कथामात्रे साधारणीभावः सम्भवति यद्यपि, तथापि एवं ये कुर्वन्ति तेषामेतद् भवति इति वाक्यवद् रंजनातिशयाभावान्न चित्तवृत्त-निमग्नता भवति।' (अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३ पृ० १८५)
२. कादम्बरी (चन्द्रकला) चौखम्बा, १९६१ पृ० ५
३. -वही- उत्तरार्ध पृ० ३
४. -वही- कथामुख पृ० ५
५. साहित्यदर्पण ६/८३२ पृ० ५५६ (लक्ष्मीटीका)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

साधारणीकरण में वर्णनात्मकता के साथ उपदेश-प्रधानता की भूमि पर अवश्य रही है, किन्तु जीवन को व्याख्यायित, परिभाषित या आलोचित करने की उस विडम्बनापरक भूमिका की वे उपेक्षा कर गये हैं, जो राग की द्रवणशीलता में वैचारिक सघनता का आयाम देती है। पंचतन्त्र की नीतिपरकता जीवन के ठोस संदर्भों को रूपायित करती है। राइडर के अनुसार सुरक्षा, समृद्धि, मैत्री एवं संकल्प के संदर्भ संश्लिष्ट हो कर मानव-आदर्श का कलात्मक निरूपण करते हैं, जिसका अनिवार्य परिणाम आनन्दानुभूति है।[1]

इस संदर्भ में वर्तमान कथा-साहित्य का स्मरण आना स्वाभाविक है। इनमें उपदेशात्मकता का संदर्भ अत्यन्त प्रच्छन्न तथा चरित्रों एवं घटनाओं के घात प्रतिघात से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक अनुभूतियाँ अत्यन्त सघन होती हैं। एक स्तर पर काव्य की गुणालंकारमनोहर वर्णनात्मकता का इसमें परोक्ष योग रहता है तो दूसरे स्तर पर नाटक के समान चारित्रिक अनुभूतियों की इसमें प्रत्यक्षकल्प प्रखर संवेदना उद्रिक्त होती है। चरित्रों के ज्ञान एवं संस्कार से युक्त हो कर प्रत्येक पाठक उनके चमत्कार से युक्त चरित्र में प्रविष्ट हो कर स्वात्मद्वार से समग्र संसार को देखता है। इस तथ्य को व्याख्यायित करने के लिए अभिनव की इन पंक्तियों का आधार लेना प्रासंगिक होगा। **'रामाध्यवसायसंस्कार एव भवन् स चमत्कारतदीयचरितमध्यप्रविष्ट-स्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन्, प्रत्येकं सामाजिको···शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति।**[2] वस्तुतः कथामात्र का साधारणीकरण यहाँ अभीष्ट नहीं है। आभ्यन्तर दृष्टि का उन्मीलन ही पाठकों को तन्मय करता है। इसी भावदर्शन को अभिनव ने **'संविद्विशेषरंजकप्राणवल्लभाप्रतिम-रसास्वादसहचर'** कह कर, प्रकारान्तर से वर्तमान उपन्यास की प्राणवत्ता को भी परिभाषित किया है। उपन्यास की संजीवनी चरित्रों के अन्तर्दर्शन में निहित है। यह कोई पूर्वनिर्मित दर्शन नहीं होता, अपितु इसके नीचे जीवन की मुक्त चेतना झिल-

---

१. This is niti, the harmonious development of the powers of man, a life in which security, prosperity, resolute action, friendship, and good learning are so combined as to produce joy.
[(A.W. Ryder) The Panchatantra (Introduction), p. 9)

२. Natyasastra (Abhinavabharati) Vol. 1 (Baroda), p. 36

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मिलाती है। वर्जिनिया वुल्फ का कथन है कि उपन्यासकार का कर्तव्य-कर्म उसी चैतन्य को सम्प्रेषित करना है।[1]

मुक्तक और साधारणीकरण

पूर्वापर प्रसंग से निरपेक्ष काव्य खण्ड का[2] भी स्वतन्त्र आस्वाद किया जा सकता है, किन्तु काव्य की अखण्ड चेतना के प्रति समर्पित आचार्यों को समष्टिगत जीवन की विराट् अभिव्यक्ति के लिए मुक्तक अपेक्षाकृत लघुतर माध्यम प्रतीत हुआ। वामन के अनुसार असंकलित रूप वाले मुक्तक काव्य में चारुता नहीं आती। अग्नि के परमाणु पृथक्-पृथक् प्रकाशित नहीं होते।[3] इस प्रकार मुक्तक की महत्ता प्रवन्ध के अंग रूप में ही स्वीकार की गई। दण्डी के अनुसार मुक्तक प्रवन्ध पर आश्रित है। **सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः'**।[4] अभिनव के अनुसार भी **'तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते'**।[5]

मुक्तक का रूप विधान ही नहीं, उसकी केन्द्रीय संवेदना भी सीमित होती है। भावोद्रेक की तीव्रता तथा आन्तरिक भावनाओं की केन्द्रीयता इसके स्वरूप को आत्मनिष्ठ बना देती हैं, फलतः कवि का वैयक्तिक स्वर इसमें अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठता है। इस संदर्भ में प्रश्न यह है कि मुक्तक की अतिशय आत्मनिष्ठता और वैयक्तिकता साधारणीकरण की मूल प्रक्रिया से कैसे सामंजस्य बैठा सकती है। साधारणीकरण की संकलपना में

---

१. ...Life is a luminous halo, a semi-transparent envelope surrounding us from the beginning of consciousness to the end. It is not the task of the novelist to convey this varying, this unknown and uncircumscribed spirit. (Virginia woolf, The Modern Novel, Writers on Writing, p. 131)

२. पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।
(ध्वन्यालोकलोचन, उद्योत, पृ० १४३-१४४)

३. असंकलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः॥
(काव्यालंकारसूत्राणि १/३/२६, पृ० ४१)

४. काव्यादर्शः, १/१३ (चौखम्वा-१९५८), पृ० १५

५. ध्वन्यालोकलोचन (तारावती व्याख्या-१९६३), पृ० ७५६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

स्वात्म-प्रतीति का निषेध है। अतः समस्या यह है कि कवि की निजी अनुभूतियाँ जो एकान्ततः वैयक्तिक भावोच्छ्वास मात्र आत्म-प्रकाशन हैं, व्यापक प्रमातृवर्ग में किस स्तर पर संवेद्य होंगी ? 'मुक्तक में सीधा आत्म-प्रकाशन होता है तथा कवि की अस्मिता अथवा उसके अहंकार से साधारणीकरण के मार्ग में वाधा उत्पन्न होती है। साधारणीकरण में जो तादात्म्य उत्पन्न होता है, वह कवि और सहृदय, दोनों के अहंकार के आंशिक विलय के उपरान्त ही सम्भव होता है। 'मैं' और 'मैं हूँ' की भावना जव विलीन हो जाती है, तभी कवि अथवा सहृदय अपने सीमित अस्तित्व को समष्टि में समाहित करने के लिए तैयार होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि मुक्तक काव्य में साधारणीकरण अधिक दुष्कर होता है।[1]

रूपात्मक और संवेदनात्मक आधार पर मुक्तक के साधारणीकरण की समस्या निश्चय ही समाधान की प्रत्याशा करती है। प्रवन्ध एवं नाट्य की अपेक्षा मुक्तक की स्थिति अपेक्षाकृत दुर्बल अवश्य है, किन्तु एकान्त उपेक्षणीय नहीं है। आनन्दवर्द्धन ने मुक्तक में निहित रस-वोध की सम्भावनाओं की ओर वड़े कौशल से इंगित किया है। मुक्तक में प्रवन्ध की भाँति रस-वोध की अद्भुत क्षमता है। रस वन्धाभिनिवेशी कवि का औचित्य उसी के आश्रित होता हैं, जवकि अन्यत्र कवि को यथेच्छ वर्णन की स्वतन्त्रता होती है। मुक्तक की रसवत्ता भी प्रवन्ध के समान असंदिग्ध है। अमरुक जैसे कवियों ने मुक्तकों में शृंगार रस की धारा प्रवाहित कर उन्हें प्रवन्ध कोटि में प्रतिष्ठित किया है।[2] वस्तुतः मुक्तक की आंतरिक अभिव्यंजना का मूल्यांकन प्रवन्ध की सापेक्षता में ही प्रासंगिक नहीं है, उसका एक निजी वैशिष्ट्य भी है जो साधारणीकरण की अधिक व्यापक संभावना की प्रत्याशा जगाता है। भोज ने जिसे अहंकार का विस्फुरण कहा है तथा जो अपनी चरम कोटि में शृंगार में पर्यवसित हो जाता हैं, वह मूलतः स्रष्टा कवि की अस्मिता का

---

१. डा० रामअवध द्विवेदी, साहित्यरूप
(भारती-भंडार इलाहावाद-२०१८ वि०), पृ० २४७

२. तत्र मुक्तकेषु रसवन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। ...मुक्तकेषु प्रवन्धेष्विव रसवन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रवन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।
(ध्वन्यालोक (सं० डा० नगेन्द्र, वाराणसी-१९६२), पृ० १८२)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ही विस्तार है। विविध विषयों से सम्पृक्त हो कर वह क्रमशः अभेद भूमि की ओर अग्रसर होता है। भावक सर्वप्रथम प्रेम के मूल संदर्भ पर आत्म केन्द्रित होता है, किन्तु शीघ्र ही उसकी भावना पुनः पुनः सक्रिय हो कर अखण्ड सात्त्विक अहंकार की व्यापक भूमिका पर प्रतिष्ठित हो जाती है। 'यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः साहंकृते हृदि परं स्वदते रसोऽसौ।'[1]

मुक्तक के असंकलित अनिबद्ध अथवा निरपेक्ष रूप का संदर्भ भी साधारणीकरण के प्रश्न को अधिक जटिल नहीं बनाता। मुक्तक में सहृदय अपनी कल्पना से पूर्वापर उचित प्रसंगों की योजना कर व्यापक भूमिका निर्मित कर लेता है।[2] अभिनव ने मुक्तक की इस प्रासंगिकता को स्वीकार किया है, यही नहीं रूप बन्ध के स्तर पर मुक्तक की एक विशिष्टता भी है। प्रबन्ध एवं नाट्य में कल्पना अथवा भावना के सूक्ष्म विस्तार का विशेष अवकाश नहीं रहता। अधिकांश कवि अथवा नाट्यकार संदर्भ को फैलाकर विभावों, अनुभावों एवं व्यभिचारियों के विराट् विम्बों को दर्शक अथवा श्रोता के सम्मुख उपस्थित कर देते हैं। इन विम्बों के मध्य निश्चित अनुक्रम के अनुभावन के लिए किसी सूक्ष्म भावना अथवा कल्पना की आवश्यकता नहीं पड़ती। अहृदय भी रसानुभूति में समर्थ हो सकते हैं। तद्विपरीत मुक्तक के आस्वादन के लिए अपेक्षाकृत कल्पना का अधिक विस्तार अपेक्षित है। भावक परिमित विभावों के प्रकाशन में भी काव्यार्थ का स्पष्ट साक्षात्कार करते हैं।[3] प्रतीकात्मकता तथा प्रसंगोचित सर्जनात्मक कल्पना के उद्दीप्त होने से प्रमाता उसके सूक्ष्म और दूरव्यापी प्रभाव को ग्रहण कर अधिक व्यापक स्तर पर साधारणीकृत होता है। अपनी भावदशा के अनुरूप मुक्तक के अभिव्यंजनात्मक वैशिष्ट्य में वह सामान्यतः समयोचित जीवन

१. शृंगारप्रकाश, (भाग-२), पृ० ३६८ (राघवन शृंगार प्रकाश, पृ० ४६२ से उद्धृत)
२. ...तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य ईदृगत्र वक्तास्मिन्नवसरे इत्यादि बहुतरं पीठवन्धं रूपं विदधते। (अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३), पृ० ४६२
३. तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्यादिहेतुवलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमित-विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। (वही, पृ० -वही-)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सत्य का पुनरनुसंधान करता है, अतः कवि की आत्मनिष्ठ प्रामाणिक अनुभूति का रागात्मक एवं बौद्धिक संस्पर्श उसे आत्मानुसंधान के लिए सहज ही प्रेरित कर सकता है। शास्त्रीय दृष्टि से विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारी भाव का पृथक्-पृथक् उत्कर्ष भी कभी-कभी प्रमाता की रसानुभूति को प्रेरित करता है। विभाव मात्र की प्रधानता के कारण भी साधारणीभाव उद्भूत होता है,[१] जो मुक्तक में संभव है। यह बात भिन्न है कि जीवन के विराट् व्यापक चित्रण की दृष्टि से प्रबन्ध ही रसोत्कर्ष में अधिक सहायक होते हैं। प्रबन्ध-काव्य की सृष्टि विराट् प्रतिभा की अपेक्षा रखती है।

नीति-काव्य और साधारणीकरण

नीतिपरक उक्तियों एवं सुभाषितों की मौलिक शक्ति जीवन और जगत् के अनुभव खण्डों को सामान्यीकृत धरातल पर व्यवस्थित करने में निहित है। इसमें मानवीय आचारण को निर्धारित करने वाले उन सार्वभौम तत्त्वों तथा युग-युग के संचित अनुभूत सत्यों की अभिव्यक्ति होती है, जिन्हें ग्रहण करने में प्रमाता को कठिनाई नहीं होती। फिर भी इसमें सम्प्रेषणीयता की गति के ऋजु एवं एकायामी होने के कारण साधारणीकरण का गम्भीर रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। इस संदर्भ में अभिनव ने कथामात्र के साधारणीकरण की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह नीति-काव्य के संबंध में भी सार्थक है।[२]

प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि उक्ति मात्र में साधारणीभाव हो जाता है, किन्तु जो ऐसा करता है, उसको इस प्रकार का फल मिलता है, वाक्य की भाँति रंजना का अभाव होने के कारण चितवृत्ति में निमग्नता नहीं होती। टिलियर्ड का कथन है कि अनुभूति का सीधा, अर्थात् हेतु का सम्प्रेषण, संवेदना के मूल्य को क्षीण करता है। एक उदाहरण इस संदर्भ में द्रष्टव्य है :-

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥

(विदुरनीति ४/६२)

---

१. तत्र विभावप्राधान्येन साधारणीभावो
(वही, पृ० ४६०)

२. नाट्यशास्त्रम् (बड़ोदा), पृ० ३६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इस उक्ति में एक समष्टिगत सत्य का अंकन है। मेल से ही व्यक्ति का उत्थान सम्भव है। इस तथ्य को प्रत्येक सामान्य व्यक्ति स्वीकार करेगा। पद्य की संरचना में उपमा, रूपक एवं अन्योक्ति का कलात्मक विधान है, किन्तु उसका रागतत्त्व शून्य अथवा क्षीण है। कवि ने समष्टिगत अनुभूति का रागात्मक स्तर पर अन्तर्भावन नहीं किया है। जीवन-मूल्य की निरावृत अभिव्यक्ति नैतिक-व्यवस्था के प्रति कवि की प्रतिवद्धता का संकेत मात्र देती है, किन्तु मूल्य के सम्प्रेषण का यह अनुक्रम प्रमाता में किसी गहन रागात्मक प्रतिक्रिया को जगाने में असमर्थ हैं।

इतिहास का साधारणीकरण

अभिनव नाट्यप्रबन्धों अथवा काव्यों में ही नहीं कथा आख्यायिका तथा इतिहास में भी साधारणीकरण की क्षमता का विवेचन करते हैं। इन विधाओं की प्रमाता के स्तर पर ग्राह्यता के नियामक तत्त्वों में अतीत के कालिक वोध का निषेध विशेष प्रमुख है। इतिहास अतीत की चेतना को व्यक्त करता है तथा इसके केन्द्रीय पात्र अतीत के बाह्य यथार्थ में नियंत्रित निजी अस्तित्व-सम्पन्न विशिष्ट ऐतिहासिक पुरुष होते हैं। प्रमाता को वर्तमान चेतना के स्तर पर कालिक अन्तराल को भेद कर उन्हें ग्रहण करना होता है। अतः उनकी असाधारण स्थिति से उभरने वाले वैशिष्ट्य-बोध का निषेध उनके लिए आवश्यक हो जाता है। अपने विशिष्ट व्यक्ति-बोध के धरातल पर ये पात्र लौकिक अस्तित्व रखते हैं तथा उनकी असाधारणता प्रमाता की चेतना के साधारणीकृत होने में बाधक होती है। फलतः तादात्म्य के अभाव में द्रष्टा उनके प्रति उदासीन रह सकता है।[1] कवि भी यदि व्यक्ति-विशेष के अन्तरंग रहस्यों को लौकिक स्तर पर उद्घाटित करता है तो वैयक्तिक पूर्वाग्रह से प्रेरित होने के कारण न तो वह सामान्य जीवन की अखण्ड चेतना को उद्भासित कर सकेगा[2] और न प्रमाता ही क्रोध अथवा

---

१. सर्वेष्वेतेषु पक्षेषु असाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात्।
(अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३, पृ० १८१)

२. कवेश्च नियतवर्णनीयनिश्चितत्वे काव्यस्यैवासम्पत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात्
(वही)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ईर्ष्याजन्य प्रतिबद्धताओं अथवा वैयक्तिक संसर्गों से मुक्त हो कर रसानुभूति कर सकेगा।[1]

प्रश्न यह है कि यह विशेषरूपता सामान्यरूपता में किस प्रकार परिणत हो सकती है। इस संदर्भ में अभिनव का अभिमत है कि ऐतिहासिक पुरुषों का ज्ञान तो विशिष्ट ही होता है। किन्तु वर्तमान परिवेश में न तो वे पात्र सक्रिय हैं और न उनकी वाह्य उपादेयता है। अब तो उनकी एकान्ततः मानसी सत्ता ही शेष है, जिसमें परिणत हो कर उनके वैशिष्ट्य अथवा वर्तमानता का तिरोधान हो जाता है। विशेष पदार्थ की क्रियाकारिता वर्तमान रूप में ही होती है, किन्तु शब्द-प्रमाण के द्वारा उनकी वर्तमानता लुप्त हो जाती है, जिससे विशेष बुद्धि भी समाप्त हो जाती है। इस तथ्य को अभिनव ने अपनी विशिष्ट शैली में बौद्ध दर्शन के स्वालक्षण्य-सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट किया है।[2] सौत्रांतिक दर्शन में प्रत्येक पदार्थ की सत्ता केवल वर्तमान क्षण में ही रहती है। उस समय वह स्वलक्षण अर्थात् असाधारण होता है। 'स्वलक्षणानां क्षणानां क्षणिकतया सालक्षण्याभावादेतेन सदृशमपरमिति वक्तुमशक्यत्वात्। ततः स्वलक्षणं स्वलक्षणमिति भावनीयम्।'[3] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इतिहास में जिस व्यक्ति-विशेष का ज्ञान होता है, उसकी वर्तमान सत्ता न होने के कारण उसका स्वालक्षण्य सिद्ध नहीं होता। रामायण आदि में वर्ण्यमान होकर उनका सालक्षण्य में पर्यवसान हो जाता है।

इस संदर्भ में अभिनव का कथन है कि 'एतादृशा वै रामादयो न कदाचन प्रमाणपथमवतार्यन्ते। यदागमेन वर्ण्यन्ते तदा तद्विशेषबुद्धिर्यद्यपि रामायण-प्रायादेकस्मान्महावाक्याद् उल्लसति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मकस्वालक्षण्यपर्यवसानम्। न च तेषां वर्तमानता इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धिः।[4]

१. लौकिकमिथुनदृशीव सांसारिकहर्षक्रोधायितापत्तेः। उभयदर्शनाकुलतया रससम्पत्यभावाच्च। (वही)

२. अभिनवभारती (दिल्ली-१९७३), पृ० १८३

३. सर्वदर्शनसंग्रह : (चौखम्बा वाराणसी-१९६४), पृ० ६०

४. नाट्यशास्त्रम्, (बड़ौदा, प्रथम-भाग), पृ० ३५-३६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तात्पर्य यह है कि आगमों में राम का स्वरूप वर्णित है, उसका अब प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं किया जा सकता आगम की भाँति ही रामायण में भी विशेष बुद्धि उल्लसित होती है। किन्तु अनुभूति-क्षण में राम की वर्त्तमानता न होने से विशेष बुद्धि तिरोहित हो जाती है। जैसा कि कहा गया है विशेष पदार्थ वर्तमान में ही अर्थक्रियाकारिता अथवा स्वलक्षणता को प्राप्त करते हैं और राम में वर्तमान क्रियाकारिता का अभाव है, अतः विशेष बुद्धि के समाप्त हो जाने से उनका साधारणीकरण हो जाता है। स्पष्टतः राम के चरित को अभिनव ने यहाँ ऐतिहासिक पीठिका पर प्रस्तुत मान कर उनके साधारणीकरण की समस्या को ऐतिहासिक धरातल पर उठाया है।

इतिहास एवं काव्य का यदि तुलनात्मक विश्लेषण करें तो इतिहास की विशिष्ट तथा एकायामी प्रकृति काव्य में रूपायित होकर समष्टि चैतन्य के स्तर पर पुनरनुसंधानित होती है। इतिहास यदि व्यक्ति का विशिष्ट रूप प्रदान करता है, तो काव्य उसके सार्वभौम वैश्व रूप की प्रतिष्ठा करता है।[1] फलतः काव्य में ऐतिहासिक कथा को इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि उसमें समष्टि आदर्शों का औचित्य उन्मीलित हो जाता है। ध्वनिकार ने इस ओर इंगित करते हुए कहा है **'औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यंजक यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत।**[2]

कालिदास ने शाकुन्तलम् की कथा महाभारत से ग्रहण की है, वहाँ वह ऐतिहासिक स्तर पर वर्णित है। अत. पात्रों में सामष्टिक आदर्श की प्राक्चेतना के स्थान पर व्यक्ति-निष्ठ कूटनीति तथा अवसरवादिता सक्रिय है। दुष्यन्त तथा शकुन्तला का विवाहपूर्व संविदा इसका प्रमाण है। शकुन्तला कहती है **'सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः। मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरम्॥ युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते। यद्येतदेवं-**

---

१. The one gives us the true in individual, the only other the true universal.

(Thomas Mann 'Schopenhauer', p. 73)

२. ध्वन्यालोक ३/१४ की वृत्ति, पृ० १९३ (वाराणसी-१९९२)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

दुष्यन्त अस्तु मे संगमस्त्वया ।[1] दुष्यन्त की व्यक्तिनिष्ठ अवसरवादिता से प्रेरित उत्तर है—

एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाऽविचारयन् ।
अपि च त्वां हि नेष्यामि नगरं स्वं शुचिस्मिते ॥[2]

किन्तु शकुन्तला की दरबार में उपस्थिति पर उसकी प्रतिक्रिया का रूप इस प्रकार है :—-

सोऽथ श्रुत्वैव तद्वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि ।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि ॥[3]

विशुद्ध व्यावसायिक स्तर पर सौदेबाजी और स्मरण रखते हुए भी 'न स्मरामि' की सामन्तीय विडम्बना से प्रेरित उक्त दोनों स्थल शकुन्तला एवं दुष्यन्ता के कान्ताकान्तभाव को प्रमाता के हृदय में शायद ही साधारणीकृत स्तर पर ग्राह्य बना सकें। कालिदास की रसग्राहिणी चेतना उक्त दोनों संदर्भों को जिन रूपों में परिवर्तित कर उपस्थित करती है, वह इतिहास की नहीं काव्य की भूमि है। आनन्दवर्द्धन का कथन है कि इतिहास के कथा प्रसंग को कवि रसाभिव्यक्ति के अनुकूल परिवर्तित कर सकता है। इतिवृत्ति-वशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः। यथा कालिदासप्रबन्धेषु।'[4]

इतिहासकार घटनाओं का उसी रूप में वर्णन करता है, जिस रूप में वे घटित होती हैं।[5] कवि उनको विशेष स्थितियों में रूपायित कर आन्तरिक

---

१. महाभारतीयं शकुन्तलोपाख्यानम् (अभिज्ञानशाकुन्तलम्—जीवानन्द विद्यासागर, १९१४, पृ० १८ से)
२. -वही-
३. -वही- पृ० २१
४. ध्वन्यालोक ३/१४ की वृत्ति पृ० १९४
५. The poet from deliberate choice represents significant characters in significant situation, the historian takes both as they come.
(op. cit. p. 73)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भाव एवं अर्थमयता को अभिव्यक्त करता है।[1] स्थूल इतिवृत के मूल में निहित भाव सत्य का अनुसंधान व्यापक प्रतीकात्मकता से अन्वित होकर साधारणीकरण की भूमिका प्रशस्त करता है।

१. The poet comprehends the idea, the inner nature of the man apart from all relation outside all time, the adequate objectivity of the thing in itself.

(Ibid. p. 74)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

देववाणी-परिषदा प्रकाशिताः ग्रन्थाः

१.	अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यविमर्शः (प्रथमखण्डः) (सं० : डा० रमाकान्तशुक्लः)	रु० १५.००
२.	,, ,, ,, (द्वितीयखण्डः)	रु० ३०.००
३.	,, ,, ,, (तृतीयखण्डः)	रु० ३०.००
४.	कर्णभूषणम् (डा० सी० आर० स्वामिनाथन्)	रु० ५.००
५.	भाति मे भारतम् (डा० रमाकान्तशुक्लः)	रु० ४०.००
६.	श्रीकृष्णचरितम् (डा० रमेशचन्द्रशुक्लः)	रु० ३०.००
७.	सुगमरामायणम् ,, ,,	रु० ३५.००
८.	हरविजयस्य साहित्यिकमध्ययनम् (डा० कृष्णकान्तशुक्लः)	रु० ६०-००
९.	श्रीमदप्पयदीक्षितचरितम् (डा० हरिनारायणदीक्षितः)	रु० २०.००
१०.	भारतस्वातन्त्र्यसंग्रामेतिहासः (डा० रमेशचन्द्र शुक्लः)	रु० ३५.००
११.	सदाशयसमुच्चयः (पं०टी०वी० परमेश्वर अय्यरः)	रु० १५.००
१२.	आभाणकमञ्जरी (,, ,,)	रु० १५.००
१३.	मेघदूत : एक विश्लेषण (डा० देवीदत्त शर्मा)	रु० २०.००
१४.	रघुवंश : एक विश्लेषण (,, ,,)	रु० २०.००
१५.	अभिज्ञानशाकुन्तल : एक विश्लेषण (,,)	रु० २०.००
१६.	कालिदास की कला और संस्कृति (भाग २) (लेखक : डा० देवीदत्त शर्मा)	रु० ६०.००
१७.	जय भारतभूमे ! (डा० रमाकान्तशुक्लः)	रु० ३०.००
१८.	अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यपरिचयः (प्रथम खण्डः) (सं० : डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० ३०.००
१९.	राधाकृष्णरसायनम् (श्री ओट्टूर उण्णि नम्बूदिरीपादः)	रु० ४०.००
२०.	साधारणीकरण और समानान्तर चिन्तन की पूर्वपीठिका (डा० सुलेखचन्द्र शर्मा)	रु० ५०.००
२१.	अभिनवहनुमन्नाटकम् (डा० रमेशचन्द्र शुक्लः)	रु० २०.००
२२.	भट्टनायक और अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा (डा० सुलेखचन्द्र शर्मा)	रु० ५०.००

प्राप्तिस्थानम्

'देववाणी-परिषद्, दिल्ली', ६ वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

(दूरभाष ५५३२०६)

Devavani Parishad New Delhi